भारतीय कला की रूपरेखा

लेखक

श्री अरविन्द 'भारती'

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

प्रथम वार] १६५३ [मूल्य १।)

मुद्रक—
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स
३, क्लाइव रोड, इलाहाबाद

भूमिका

मनुष्य को सर्वप्रथम स्वयं की अनुभूति हुई। उसके चारों ओर व्यापक जगत और प्रकृति के विभिन्न स्वरूप थे। इनकी ओर वह स्वाभाविक रूप से आकृष्ट हुआ। उसने प्रकृतिमय जगत से अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहा। प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों को देखकर उसके हृदय में विस्मय उत्पन्न हुआ और वह ऊषा, वरुण, इन्द्र आदि के गीत गा उठा। इस नैसर्गिक आकर्षण का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य ने प्रकृतिमय जगत के उन भावों को, नाना रूपों में अभिव्यंजित किया। यही कला के विकास की कहानी है। उस अभिव्यंजना का व्यक्तीकरण कवियों की लेखनी से काव्य के रूप में प्रकट हुआ। चित्रकार की तूलिका से चित्रों के रूप में व्यक्त हुआ। मूर्तिकार की टाँकी से प्रतिमा के रूप में उपस्थित हुआ। धीरे धीरे कला का इतना महत्व बढ़ा कि साहित्य संगीत और कला से विहीन मनुष्य को पशु की संज्ञा दी जाने लगी—'साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण हीनः।'

भारतीय कला की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि उसका आधार-भूत विषय धर्म है। इसका कारण यह है कि धर्म और दर्शन से ही हमारी भावनाओं का संचार हुआ है। हमने देवताओं की मूर्तियों और चित्रों में सर्वव्यापी सत्ता की झलक देखनी चाही जो विश्व के कण-कण में विद्यमान है। हमने अपने ज्ञान से 'सत्य' की खोज की,

कुछ ऐसे भी स्वतंत्र विचार के व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय कलाओं के मूल्य को समझा तथा भारतीय परम्परा को सम्मान दिया। इस प्रकार से आधुनिक काल में एक ओर भारतीय परम्परा का आधार लेकर तथा दूसरी ओर पाश्चात्य कला का आधार लेकर चलने वाले कलाकार हुये। यों तो प्रायः सभी न्यूनाधिक रूप में पाश्चात्य पद्धति से से प्रभावित हैं फिर भी कुछ पाश्चात्य रंग में इस प्रकार से रँग गये हैं कि अब वे अजन्ता की कला को समझने में अपने को असमर्थ पाते हैं। उनकी दृष्टि में अभिव्यक्ति करने की कोई शैली भारतीय है ही नहीं।

परन्तु जाने अथवा अनजाने में सभी भारतीय कलाकार अलग-अलग परम्पराओं को अपनी कला का आधार मानते हुये भी शैली की दृष्टि से एक हो चुके हैं। जो कुछ भी हो यह सन्तोष की बात है कि कलाकार विकास के पथ पर हैं—भविष्य उज्ज्वल है। भारतीय जनता किन्हीं विशेष कारणों से पाश्चात्य देशों की जनता के समान कला प्रेमी नहीं है, न कलाकारों की उतनी प्रतिष्ठा ही है। फिर भी कलाकार अपना कर्त्तव्य किये जा रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सन्तोष का फल मीठा होता है।

—लेखक

विषय सूची

भारत की चित्रकला का इतिहास

भारत की चित्रकला का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि भारत के आदिम-निवासियों का। सत्य तो यह है कि चित्र बनाने की प्रवृत्ति सर्वदा से ही हमारे पूर्वजों में वर्तमान रही है। अपने मस्तिष्क के बल पर जब मानव जंगली जीवन से ऊपर उठकर मानव बना और उससे भी पहले जब उसने मानव बनना शुरू ही किया था, तब भी उसमें चित्र बनाने की प्रवृत्ति वर्तमान थी। संसार की अनेक गुफाएँ इस बात की पुष्टि करती हैं। इन गुफाओं में, जो कभी इन पूर्वजों की निवास-स्थान थीं, इन आदिम मनुष्यों द्वारा अंकित चित्र मिले हैं। विद्वानों का विचार है कि ये चित्र आज से लगभग दस हजार वर्ष अथवा उससे भी पहले के हैं। उस समय मनुष्य धातुओं के व्यवहार तक से अपरिचित था।

(१) प्रागैतिहासिक काल—भारत में प्रागैतिहासिक काल की चित्रकारी के बहुत ही कम उदाहरण मिलते हैं। किन्तु जो मिलते हैं, वे बड़े ही मनोरंजक हैं। मध्यप्रदेश की कैमूर-पहाड़ियों में स्थित कुछ गुफाओं की दीवालों पर शिकार करते हुये मानवों के बेतुके और बेढंगे चित्र प्राप्त हुए हैं। विन्ध्याचल की पहाड़ियों में भी खोदाई करते समय प्रस्तरकाल के कुछ उदाहरण प्राप्त हुए हैं। रियासत रायगढ़ के सिंहनपुर नामक ग्राम के समीप—जो मन्द नदी के पूर्व में स्थित है, प्रागैतिहासिक काल की चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण प्राप्त हुए हैं। इन पहाड़ियों की अनेक गुफाओं के द्वार पर गेरू से बनाए हुए कुछ चित्र हैं, जो बड़े ही प्राचीन काल के ज्ञात होते हैं। इन चित्रों में मनुष्य और पशुओं का चित्रण है। उनके साथ ही साथ

कुछ लिखा हुआ भी है। कुछ पशुओं का (बारहसिंहा, हाथी और खरगोश) बड़ा हृदयग्राही और सजीव अंकन हुआ है। एक चित्र में कुछ मनुष्य एक जंगली बैल का शिकार कर रहे हैं। इस दृश्य का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। शिकारियों में से कुछ गिरे पड़े हैं और कुछ के घावों से खून निकल रहा है। एक दूसरा चित्र एक भैंसे का है, जिसे भालों और बर्छों से बुरी तरह घायल कर दिया गया है। वह मृत्यु की भीषण यंत्रणा पाता हुआ दम तोड़ रहा है तथा उसके चारों ओर प्रसन्न मुद्रा में शिकारी खड़े हैं। इन पहाड़ियों के पास पत्थर के अस्त्र भी मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि ये चित्र सम्भवतः प्रस्तर युग के हैं। इन चित्रों में से अधिकांश समझ में नहीं आते और अस्पष्ट हैं, उनसे मालूम हो जाता है कि इन अर्द्धसभ्य जंगली चित्रकारों में भी चित्रकला की प्रवृत्ति वर्तमान थी। वे अपने भावों को गेरू और तूलिका द्वारा प्रकट कर सकते थे। इस प्रकार के प्रागैतिहासिक कालीन चित्रों के कुछ उदाहरण उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर के जिले में भी प्राप्त हुये हैं।

इन प्रागैतिहासिक कालीन सभी चित्रों के कुछ समान लक्षण हैं। सभी के विषयों का उस समय आए दिन के जीवन से सम्बन्ध है। जानवरों का शिकार करते हुये अथवा लड़ते हुये मनुष्य ही इन चित्रों के प्रधान विषय हैं। हम जानते हैं कि यही उस युग का सामाजिक जीवन था। अतएव हम कह सकते हैं कि प्रागैतिहासिक काल के ये चित्र उस युग के मानव-जीवन को व्यक्त करते हैं। इन चित्रों की शैली यथार्थतापूर्ण और युग की आदिम है और चित्रों के अंकन में जिन सामग्रियों का प्रयोग किया गया है, उनमें मुख्य रामरज, गेरू और हिरौंजी हैं। ये चित्र गुफाओं की दीवालों और चट्टानों पर बनाये गए हैं। विन्ध्याचल की गुफाओं के पास लाल रोड़ों के पिसे हुये नमूने और रंगों को पीसने के लिए सिल भी मिली हैं, जिनसे

प्रकट होता है कि यहाँ प्रागैतिहासिक काल की चित्रकला के केंद्र वर्तमान थे।

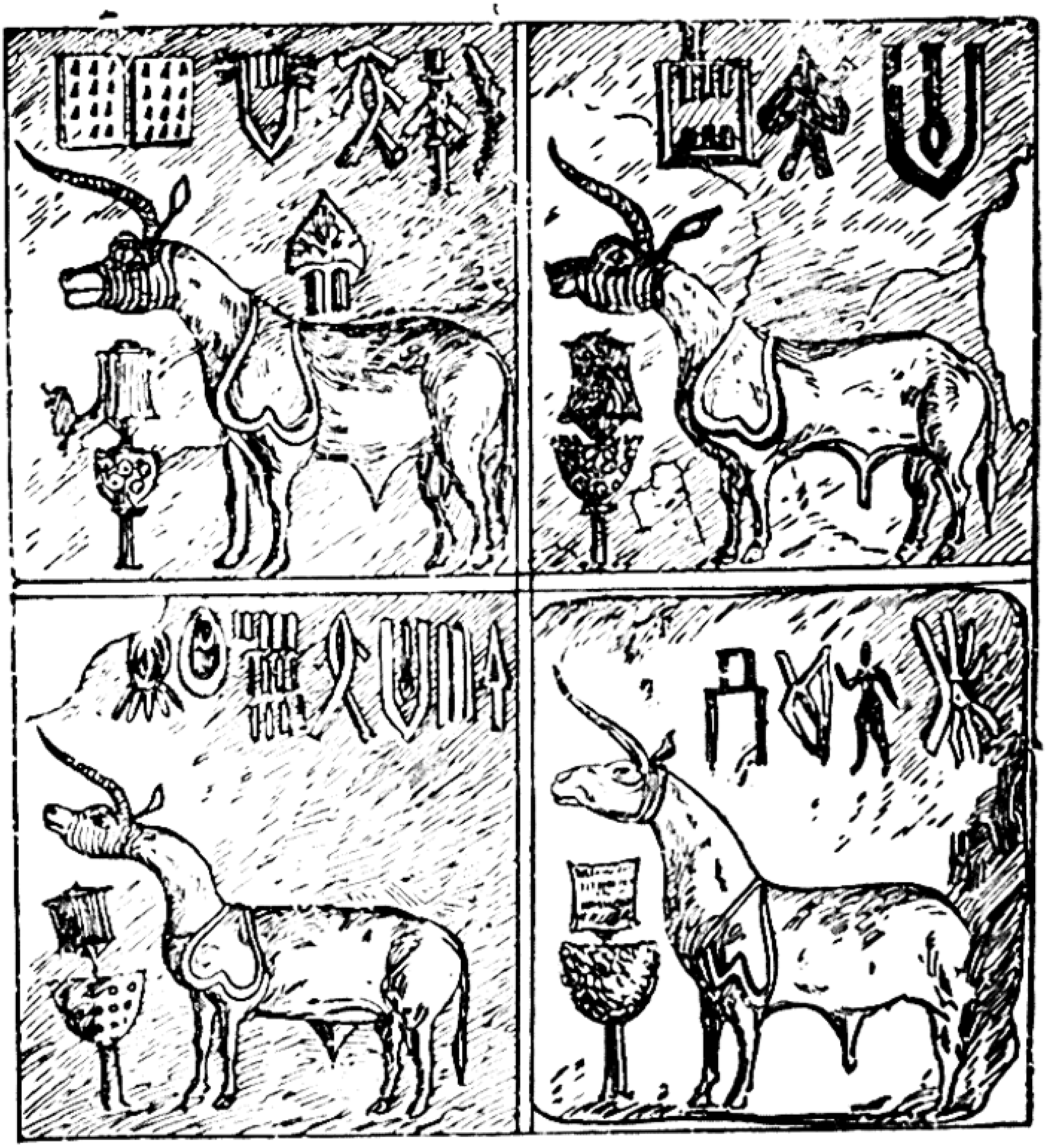
मोहनजोदड़ो और हड़प्पा—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के ध्वंसावशेषों से भारत के प्राचीन इतिहास पर जो नवीन प्रकाश पड़ा है उसे धीरे-धीरे संसार के सभी विद्वान् स्वीकार करने लगे हैं। यहाँ की खोदाई में जो बर्तन और रंगी हुई मूर्तियाँ मिली हैं, उनकी गणना भी हम भारत के प्रागैतिहासिक काल की चित्रकला में ही करेंगे। यहाँ के बर्तनों पर बने सुन्दर-सुन्दर आलंकारिक चित्रण प्राचीन भारत की चित्रकला के गौरव कहे जा सकते हैं। इन आलंकारिक चित्रणों में मुख्यतः सरल रेखाओं, कोणों, वृत्तों, और वृत्तांशों आदि ज्यामितिक आकारों की संख्या अधिक है (चित्र नं० १)। इनके अतिरिक्त कुछ बर्तनों पर पशु पक्षियों और फूलों तथा पत्तियों के आकारों का भी आलंकारिक रूप में उपयोग हुआ है। इन चित्रणों में कुछ तो ऐसी हैं जिनकी परम्परा बाद में भी भारत की चित्रकला में बनी रही है (चित्र नं० २)।

प्रागैतिहासिक काल के इन चित्रों के समय और तिथि के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। जब तक इधर भरपूर खोज न हो, ये अंधकार में ही छिपे रहेंगे।

(२) प्राचीन काल—प्रागैतिहासिक काल के इस धुँधले युग के बाद हम भारतीय चित्रकला के उस युग में प्रवेश करते हैं जो बहुत कुछ प्रकाश में है और जिसके चित्रों की तिथि आदि के विषय में अपेक्षाकृत अधिक निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। इस युग के सबसे प्राचीन और सबसे अच्छे उदाहरण सरगुजा रियासत की रामगढ़ पहाड़ी की जोगीमारा की गुफा में प्राप्त हुये हैं। विद्वानों की राय है



चित्र नं० १



चित्र नं० २

कि इस गुफा की दीवारों पर बने चित्रों की तिथि ३०० ई० पू० है। लेकिन कुछ लोगों का विचार है कि ये चित्र इससे भी पीछे के हैं और ईस्वी सन् से सौ वर्ष पूर्व के नहीं हो सकते।

जोगीमारा गुफा के चित्र—साधारण दृष्टि से देखने पर जोगीमारा की गुफा के चित्र गेरू और कालिख से बने मालूम होते हैं। ये चित्र ऐसे धुँधले और भद्दे प्रतीत होते हैं मानो इन्हें गुफा की खुरदरी सतह पर किन्हीं अनाड़ी हाथों ने बना दिया है। किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से मालूम होता है कि इस धुँधले और भद्देपन का कारण यह है कि इन चित्रों के मूल-रूप को सुधारने के लिये किसी ने असफल प्रयत्न किया है जिसका परिणाम यह हुआ है कि मूल चित्रों की स्पष्ट, सुन्दर और पुष्ट रेखाएँ उनके ऊपर फिर से खींची गई भद्दी रेखाओं के नीचे छिप-सी गई हैं। गुफा के इन भित्ति चित्रों में भवनों, पशुओं, और मनुष्यों का आलेखन हुआ है जो अब धुंधली और नष्टप्राय दशा में है। फिर भी इनकी शैली में और तत्कालीन वास्तुकला और मूर्तिकला की शैली में जो समानता है, वह ध्यान देने योग्य है। चित्र के किनारों पर मकर आदि जल-जन्तुओं का चित्रण है। लेकिन इन चित्रों की कथावस्तु के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

सम्भव है कि पहाड़ियों को काट कर बनाई हुई अन्य गुफाओं की दीवारें भी इसी प्रकार के भित्ति-चित्रों से सजी हुई हों। किन्तु भारत की जलवायु में दीमकों की कृपा से वे नष्ट हो गई हैं। बहुत सम्भव है कि उस काल के लकड़ी के बने भवनों की दीवालों की चित्रकारी की भी यही दशा हुई हो।

प्राचीन उल्लेख—इस युग के जो चित्र मिलते हैं उनकी शैली के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह नितान्त अनगढ़ है

और इनकी कला अपनी अधपकी अवस्था में ही है। किन्तु इतने से ही इस युग की कला की परख समुचित रूप से नहीं की जा सकती, क्योंकि जब हम देश के साहित्य में प्राप्त चित्रकला सम्बन्धी वर्णन और उल्लेखों पर दृष्टि डालते हैं तो मालूम होता है कि प्राचीन काल में भी चित्रकला अपने उन्नत रूप में वर्तमान थी। भारत के निवासी इस कला में पर्याप्त रूप में दक्ष ही न थे परन्तु चित्रकला उनके जीवन का अंग बन गई थी। इतना ही नहीं, चित्रकला पर अनेक ग्रंथ भी लिखे गए हैं और उनके अंगों का शास्त्रीय विवेचन भी कहीं-कहीं मिलता है। इस कथन की पुष्टि एशिया के खोतान प्रदेश से प्राप्त बौद्ध शैली के चित्रों से होती है।

चित्रकला की उत्पत्ति के विषय में एक पौराणिक आख्यायिका है, जिसके अनुसार विश्वकर्मा ब्रह्मा को ही चित्रकला का पिता माना गया है। एक राजा की भक्ति से प्रसन्न होकर उसके मृत पुत्र का चित्र बनाकर ब्रह्मा ने उसमें प्राणों का संचार कर दिया था। संक्षेप में यह कि ब्रह्मा को ही इस कला का आदि गुरु माना गया है। इससे इस कला की प्राचीनता और पवित्रता का बोध होता है। आर्यों के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में चमड़े पर बने हुये 'अग्निदेव' के चित्र का उल्लेख किया गया है। महाभारत में ऊषा और उसकी सखी चित्रलेखा की कथा है। ऊषा स्वप्न में एक सुन्दर राजकुमार को देखकर उस पर मोहित हो गई। ऊषा ने यह भेद अपनी सखी चित्रलेखा को बतला दिया। चित्रलेखा ने स्मृति से उस समय के सभी राजकुमारों के चित्र बना-बना कर ऊषा को दिखलाये और स्वप्न में दर्शन देने वाले राजकुमार को पहचानने को कहा। ऊषा ने ज्यों ही कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के चित्र को देखा तो उसको पहचान लिया। इस प्रकार स्मृति-चित्र बनाने की ऐसी और भी कथाएँ हमारे पुराणों में हैं। इन कथाओं के पढ़ने से यह भी पता चलता है कि भारत के

चित्रकार भित्ति-चित्र बनाने में ही विशेष निपुण थे और इन चित्रों के विषय सांसारिक ही होते थे। पाणिनि ने भी संघ राज्यों के 'अंक' और 'लक्षणों' की चर्चा की है। इसका मतलब यह है कि पाणिनि के समय में अर्थात् ईसा से लगभग ८०० वर्ष पूर्व भी भारत में चित्र-कला का प्रचार रहा होगा। बुद्ध के समय में भी चित्रकला का खूब प्रचार था क्योंकि उन्होंने अपने अनुयायियों को चित्रकला के पीछे अपना समय व्यर्थ न गँवाने की आज्ञा दी थी। बौद्ध धर्म के प्रचार से ही चित्रकला में बाद को धार्मिक पुट की प्रधानता हुई। तिब्बत के एक भित्ति चित्र में एक कलाकार स्वयं भगवान् बुद्ध के सामने बैठ कर उनका चित्र बना रहा है। बौद्धों के धार्मिक ग्रंथ विनय-पिटक में भी चित्रों का उल्लेख है। उसमें महाराज प्रसेन के चित्र-गृहों का विवरण और उल्लेख है जिनके चित्र आलंकारिक ढंग से सजाये हुए बतलाए गए हैं।

रामायण में भी इसी प्रकार भित्ति-चित्रों का उल्लेख है। इसमें सन्देह नहीं कि पीछे की बौद्ध शैली के अजन्ता के भित्ति-चित्र इन्हीं की परम्परा में आते हैं। इस प्रकार के अगणित उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनसे पता चलता है कि इस कला का भारत में खूब प्रचार था और उसे आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

चित्रों के इन उल्लेखों के अतिरिक्त कुछ पुस्तकों में चित्रकला की चित्रण-पद्धति के ऊपर भी काफी अच्छे ढंग से लिखा हुआ मिलता है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में चित्रकला के छः अंगों का वर्णन है।

चित्रकला के विषय पर एक दूसरी प्राचीन पुस्तक भी मिलती है जिसका नाम "चित्र-लक्षण" है। इस पुस्तक में चित्र के लक्षण दिए हुए हैं। एक अध्याय में आकृतियों के अनुपात के ऊपर भी लिखा गया है। इसमें लिखा है कि जन-साधारण के चित्र को राजाओं के चित्रों से छोटा बनाना चाहिए। देवताओं और मानवों के चित्रों का

अन्तर भी दिया हुआ है। मुखाकृति के विषय में भी सविस्तार लिखा हुआ है।

शिल्प-शास्त्र तीसरी पुस्तक है, जिसमें चित्रकला पर लिखा गया है। यह पुस्तक अपने वास्तविक रूप में अब भी प्राप्य है और इस दृष्टि से बहुमूल्य है।

प्राचीन काल की चित्रकला के अन्तर्गत हम गुप्त कालीन चित्र-कला को ही लेंगे यद्यपि अजन्ता की ६ वीं तथा १० वीं गुफाओं में शुंग और कुशान-काल के भी कुछ टूटे-फूटे चित्र प्राप्त हुए हैं। इन चित्रों का समय १०० ई० पू० स २०० ई० तक का है। एक राजा का चित्र उस समय की साँची, मथुरा और भरहुत की मूर्तियों से बहुत कुछ मिलता है। इस काल की गुफाओं के चित्रों में पुरुषों के सिर की पगड़ियाँ और भारी-भारी आभूषण बिलकुल भरहुत और मथुरा शैली के हैं।

गुप्त-काल—बौद्ध शैली—अजन्ता की गुफायें

५० ई०—७०० ई०

अजन्ता की गुफाओं की चित्रकला की शैली और उसका विषय बौद्ध है, यद्यपि उनका समय शुंग-कुशान और गुप्त राजाओं का शासन-काल है। गुप्त काल को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है और इस स्वर्ण युग की चित्रकला के सब से अच्छे उदाहरण अजन्ता की गुफाओं में मिलते हैं।

जोगीमारा की गुफाओं के काल के बाद ईसवी सन् के आरम्भ होते ही भारत की चित्रकला में एक युग का आरम्भ हो जाता है, जिसे निःसन्देह भारत की चित्रकला का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। भारत की चित्रकला में जो कुछ सुन्दर और श्रेष्ठ है, वह मानो इन्हीं पाँच छः सौ वर्षों के समय के घेरे में सिमिट कर रह गया है। बौद्ध धर्म इस काल में जनता का धर्म था और समस्त एशिया में उसका प्रचार हो रहा था। विश्व के इतिहास में ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं जब किसी धर्म या मत विशेष से मानव की कलात्मक भावना को इतनी अधिक उत्तेजना और प्रेरणा मिली हो जितनी बौद्ध धर्म से। भारत, लंका, बर्मा, श्याम, जावा, चीन, जापान, तिब्बत और खोतान जहाँ भी बौद्ध काल की चित्र-कला अथवा मूर्ति-कला के उदाहरण मिले हैं, उनसे हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। सत्रहवीं ईसवी के एक इतिहास-लेखक तारानाथ ने लिखा है, कि जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार था, वहीं-वहीं प्रतिभा-सम्पन्न चित्रकार और कलाकार वर्तमान थे। उनका यह कथन बिलकुल सत्य है। वास्तव में बौद्ध धर्म चित्रण योग्य है।

उसके प्राचीन इतिहास को, जिसे हम संक्षेप में 'जातक' कहते हैं और जिसमें बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ हैं, जितनी सफलता-पूर्वक तूलिका द्वारा चित्रों में व्यक्त किया जा सकता है, उतनी सफलता से लेखनी द्वारा लेखों में नहीं किया जा सकता। महात्मा बुद्ध का धर्म जब शीघ्रता के साथ दूर-दूर देशों में फैल गया तो बौद्ध भिक्षुओं के पास उसके समुचित प्रचार का चित्रकला से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं था। इसके अलावा एक बात यह भी थी कि बौद्ध भिक्षु दूसरे देशों की भाषा से अनभिज्ञ थे। इसलिए भारत के ये भिक्षु चित्रकार बुद्ध के करुणा और विश्व-प्रेम के सन्देश को लेकर जहाँ जहाँ गये, अपने साथ भारत की चित्रकला को भी लेते गये। यही कारण है जो हम आज भी खोतान, चीन, जापान, जावा और लंका आदि देशों की उस काल की उपलब्ध चित्रकला पर बौद्ध शैली की भारतीय चित्रकला की स्पष्ट छाप देखते हैं। विनयन महोदय का कहना है कि जापान के होरियुजी नामक मन्दिर के भित्ति चित्रों को देखकर अजन्ता के भित्ति-चित्रों की याद हो आती है। चीन की उस समय की चित्रकला पर इस प्रभाव का होना अनिवार्य-सा ही है, क्योंकि फाहियान और ह्वेनत्सांग की यात्राओं के बाद भारत और चीन का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ हो उठा था और इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं कि भारत का बौद्ध धर्म ही चीन की बौद्ध कला का जन्मदाता था।

बौद्ध काल की कला के सब से अच्छे उदाहरण अजन्ता की गुफाओं के भित्ति-चित्रों में सुरक्षित हैं। इतना ही नहीं, इन गुफाओं के भित्ति-चित्रों का इतिहास बौद्ध काल की चित्रकला के विकास का भी इतिहास है।

अजन्ता की गुफाएँ—निजाम राज्य में स्थित फरदापुर नामक एक गाँव है। इसी गाँव के समीप सूखी पहाड़ियों में अजन्ता के

कला-मंदर स्थित हैं। फरदापुर का निकटतम स्टेशन छोटी लाइन का पहूर ग्राम है जहाँ से फरदापुर कुल सात मील रह जाता है। फरदापुर से चार मील की दूरी पर बाघोर नदी बहती है। अजन्ता पहुँचने के लिये इस नदी को पार करना होता है। इस नदी में सर्पाकार इतने अधिक घुमाव हैं कि जब तक आप एक दम समीप न पहुँच जायँ, तब तक आपको गुफाओं का ध्यान भी नहीं होगा। नदी के अंतिम घुमाव को पार करते ही लगभग तीन सौ फीट ऊँचा एक टीला आपको दिखाई देगा जिसके बीचोंबीच बारह-दरियों की एक कतार दिखाई देती है। यही अजन्ता की प्रसिद्ध गुफाएँ हैं जिनमें भारत के अतीत की सुन्दरतम साकार स्मृतियाँ छिपी पड़ी हैं।

अजन्ता की गुफाओं के दो प्रकार हैं—एक चैत्य और दूसरे विहार। विहार भिक्षुओं के निवास और अध्ययन का स्थान था और चैत्य में केवल उपासना की जाती थी। चैत्य गुफाएँ विहार-गुफाओं से अधिक लम्बी हैं और उनके अन्तिम सिरे पर एक स्तूप बना हुआ है। अजन्ता की गुफाओं में १९ नम्बर की गुफा अजन्ता का सब से बड़ा चैत्य है। इसका द्वार बहुत ही सुन्दर है। इसी गुफा के द्वार में, दाहिनी ओर की दीवाल पर, नागराज का पूरा परिवार खुदा हुआ है।

अजन्ता में कुल उनतीस गुफाएँ हैं जिनमें १, २, ९, १०, १६ और १७ नम्बर की गुफाओं के चित्र कुछ अंश में बचे हैं। शेष सभी गुफाओं में दीवाल पर कहीं सुन्दर मुख, कहीं खंडित हाथ-पैर और कहीं घोड़े-हाथी और उनके सवारों के खंडित शरीर दिखाई पड़ते हैं। ऊपर की चारों गुफाओं की दीवालों, खंभों और छतों पर भी चित्र बने हुए हैं।

इतिहास—अजन्ता की चित्र-कला का समय निश्चित करना जरा कठिन है। इसका पूर्व इतिहास कुछ मालूम नहीं और चित्रों के

विषयों से कुछ सहायता नहीं मिलती; क्योंकि सम्भवतः एक या दो ऐतिहासिक घटनाओं को छोड़कर सभी चित्रों के विषय बुद्ध के जन्म-जन्मान्तर की कथाएँ हैं। फिर भी विद्वानों की राय है कि अजन्ता की चित्रकारी का समय ५० ई० से लेकर ७०० ईसवी तक का है। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकारी के अध्ययन से भी इसी मत की पुष्टि होती है। यद्यपि अधिकांश विद्वान इस बात को मानते हैं कि अधिकांश चित्र गुप्त काल में अंकित हुये हैं।

इस बात से तो प्रायः सभी सहमत हैं कि अजन्ता की ६ और १० नम्बर की गुफाएँ सबसे प्राचीन हैं क्योंकि उनकी कारीगरी भरहुत, अमरावती और साँची की मूर्तिकला से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। इसी समानता के आधार पर यह मानना पड़ता है कि इनकी चित्रकारी का समय भी ईसा की प्रथम शताब्दी ही है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि जोगीमारा की गुफाओं की तरह इनकी चित्रकारी अकुशल चित्रकारों का असफल प्रयत्न मात्र है। अजन्ता की ये प्राचीनतम कृतियाँ अनुभवहीन और अकुशल व्यक्तियों के प्रथम प्रयत्न नहीं हैं। इन्हें देखने से ही मालूम होता है कि ये कुशल कलाकारों के हाथों द्वारा चित्रित कला के सुन्दर नमूने हैं जिनके पीछे भारतीय कला की परम्परा का भरापूरा इतिहास है। ये सब उन्हीं कलाकारों की कुशल रचनायें हैं जिनकी कला-परम्परा का देश के साहित्य में पर्याप्त उल्लेख है। इन प्राचीन भित्ति-चित्रों की शैली सहज और अकुंठित है और रूपरेखा पुष्ट और सजीव हैं। दृश्यों का संयोजन सुन्दर है और कुछ आकृतियों का चित्रण बड़ा ही मनोरम है। हाथों का भावपूर्ण चित्रण देखते ही बनता है। समय के अनुसार हम इन गुफाओं का विभाजन निम्न रूप से कर सकते हैं :—

१—६ और १० नम्बर की गुफाएँ	१०० ई०
२—१० नम्बर की गुफाओं के खंभे	३५० ई०

३—१६ और १७ नम्बर की गुफाएँ ५०० ई०
४—१ और २ नम्बर की गुफाएँ ६२६ ई०-६२८ ई०

ऊपर के विवरण से मालूम होता है कि ६ और १० नम्बर की गुफाओं की चित्रकारी के बाद लगभग २५० वर्ष के पश्चात् फिर चित्रकारी का प्रारम्भ हुआ। ये चित्र १० नम्बर की गुफा के खंभों पर अंकित किये गए हैं और जैसा लिखा जा चुका है, इन का समय लगभग ३५० ई० है।

१६ और १७ नम्बर की गुफाओं के चित्र ६ठीं शताब्दी की बौद्ध शैली के नमूने हैं। ७ नम्बर की गुफा में सबसे अधिक चित्र बने हुए हैं और ये चित्र इस स्कूल के सबसे अधिक अच्छे नमूने हैं। इस गुफा की शैली को लोगों ने 'कथात्मक' शैली कहा है, और सच-मुच इन चित्रों में भगवान् बुद्ध के जीवन-मरण की कथाएँ ही दिखाई हैं। जनता को बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से ही इन चित्रों को बनाया गया है। सभी चित्र सजीव और व्यापारपूर्ण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध-धर्म का पतन जब होने लगा था, उस समय उन चित्रों को बनाया गया था और मानों इन सुन्दर सजीव चित्रों द्वारा कलाकार भिक्षुओं ने जनता से अपने धर्म को जीवित रखने की अन्तिम याचना की है।

नम्बर १ और २ गुफाओं का काम सब से पीछे का है और १ नम्बर की गुफा के एक चित्र की घटना से इन गुफाओं का काल जानने में बड़ी सहायता मिलती है। एक चित्र में शायद पुलकेशिन द्वितीय ईरान के सम्राट खुसरो परवेज के राजदूत का स्वागत करता हुआ दिखलाया गया है। इस घटना का समय ६२६ से ६२८ ई० है। इसके अतिरिक्त इन गुफाओं में और भी ऐसे चित्र हैं जिनसे ईरान से भारत के सम्बन्ध का पता लगता है।

नम्बर १ की गुफा के चित्रों के विषय में सबसे अधिक मनोरंजक बात यह है कि इनमें और जावा द्वीप की मूर्तियों में बहुत कुछ समानता है जिससे मालूम होता है कि जावा के बोरोबुदूर की कला भी किसी अंश तक अजन्ता की ऋणी है। नम्बर २ की गुफा के कुछ चित्र सबसे पीछे के हैं और इनमें इस कला-शैली की दुर्बलतायें प्रकट होने लगी हैं। शायद इस शैली के अंतिम चित्र यहीं प्राप्त होते हैं। इन गुफाओं में दो शैलियाँ स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती हैं। इनमें से एक में बहुत ही अधिक सजावट है जिसमें गति और जीवन का अभाव है। यह इसी काल की खोतान की चित्रकला से मिलती-जुलती है। यह शैली बाद की तिब्बत की शैली से भी समानता रखती है। दूसरी शैली में संयोजन की एकता का अभाव है और स्थान स्थान पर कलाहीनता दृष्टिगत होती है। ऐसा मालूम होता है कि इनमें कुछ भाग नवशिक्षित अकुशल हाथों की कृतियाँ भी हैं; यद्यपि मुख्य केन्द्र के चित्र अब भी कुशल कलाकारों के हाथ की रचनाएँ प्रतीत होती हैं। लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिये कि यहाँ के चित्र नितान्त निम्न श्रेणी के हैं।

अजन्ता के कुछ भित्ति चित्र—१ ली गुफा की पूरी दीवाल पर सिद्धार्थ की तपस्या और असुरों के आक्रमण का चित्र अंकित है। अपनी सेना के साथ कामदेव भगवान् को घेरे हुए है और उनकी तपस्या भंग करने की चेष्टा कर रहा है। बुद्ध के चारों ओर विकट मुखवाली डरावनी मूर्तियाँ हैं और दूसरी ओर उनकी वासनाओं को उभाड़ कर उन्हें पथ-भ्रष्ट करनेवाली सुन्दरी कामिनियों के नयनाभिराम चित्र हैं। इन सब के बीच में स्थित, भूमिस्पर्श, मुद्रायुक्त, तथागत का चित्र है। उनकी मुद्रा में अलौकिक शान्ति है। वे ध्यानमग्न, शान्त और अविचल हैं, मानों उनके चारों ओर कुछ हो ही नहीं रहा है। शान्तरस का इतना सुन्दर चित्रण चित्र-कला के माध्यम-द्वारा

संसार में अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। यह चित्र बारह फीट ऊँचा और आठ फीट चौड़ा है।

इसी गुफा में मण्डप की दीवाल पर बोधिसत्व का बड़ा सा चित्र अंकित है। यह उस समय का चित्र है जिस समय कुमार सिद्धार्थ गृह त्याग की सोच रहे हैं। यह चित्र मनुष्य के आकार से कुछ बड़ा है। दाएँ हाथ में नील कमल है। चित्र किंचित् त्रिभंगी युक्त है। मांसल और सुन्दर मुखारविन्द पर चिन्तन, करुणा, वैराग्य आदि के भाव सफलतापूर्वक प्रकट किए गए हैं (चित्र नं० ६)। इस चित्र के आसपास की समस्त देव सृष्टि, मानव-सृष्टि और विचार-मग्न यशोधरा पर इनके इन भावों का प्रभाव पड़ रहा है। इस चित्र को देखने से ही ज्ञात हो जाता है कि दर्शक एक ऐसी महान् आत्मा के सामने खड़ा है जो विश्वकल्याण की जटिल समस्या के निराकरण में निरत है। दीवाल पर स्वाभाविकता के साथ कुछ सरल रेखाओं द्वारा कुमार के विशाल कंध और सुन्दर बाहुओं का चित्रण बड़ा ही अद्भुत है। कन्धों और बाहुओं के बीच तनिक छाया दिखाकर कोमलता और सुन्दरता का बड़े ही कुशलता-पूर्वक आभास दे दिया गया है। मुख पर गम्भीरता और करुणा के भाव छलक रहे हैं और यह सब केवल कुछ रेखाओं द्वारा ही व्यक्त किया गया है।

भौंहों को तूलिका की एक ही रेखा से अंकित किया गया है, लेकिन इस एक ही रेखा में कुछ ऐसी शक्ति और सजीवता आ गई है जो किसी कला पारंगत आचार्य के हाथों से ही सम्भव हो सकता है। सन्देह, झिझक, और हिचकिचाहट का कहीं आभास भी नहीं है। सर्वत्र एक प्रवाह है जो सचमुच अपूर्व है। नासिका और होठों पर भाव दिखलाने के लिए जो छाया दिखलाई गई है, वह हमें बतलाती है कि चित्रकार अपनी कला का आचार्य है और अपनी तूलिका पर उसका पूरा अधिकार है।

१६ नम्बर की गुफा के दो चित्र विशेष दर्शनीय हैं। एक है भगवान् बुद्ध के गृह-त्याग का चित्र। भगवान् गृह-त्याग करके जा रहे हैं और यशोधरा अपने पुत्र राहुल के संग सो रही है। आसपास की दासियाँ भी सो रही हैं। यही चित्र का विषय है। बुद्ध की मुख मुद्रा में कहीं भी मोह-माया नहीं है। उनके मुख से त्याग का शान्त भाव प्रकट हो रहा है। दूसरा चित्र एक मरणोन्मुख राजकुमारी का है जिसके जीवन की सभी आशाएँ समाप्त हो चुकी हैं। पीड़ा से व्यथित राजकुमारी की दृष्टि और आसपास की मुद्राओं के व्याकुल भाव दर्शक को रुला देते हैं।

अजन्ता की १७ नम्बर की गुफा के सभी चित्र एक से एक सुन्दर हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि बौद्ध काल के अधिक चतुर और प्रमुख कलाकारों ने इसी गुफा में अपनी कला का प्रदर्शन किया है। इस गुफा में माता-पुत्र का एक प्रसिद्ध चित्र है। माता-पुत्र यशोधरा और राहुल हैं। इनकी आकृतियाँ पूरे मानव-माप की हैं और इनके सामने अपने दाहिने हाथ में भिक्षा-पात्र लिये हुए भगवान् बुद्ध का मानव-आकार से बहुत विशाल एक चित्र अंकित है। बुद्धत्व प्राप्त करने के पश्चात् भिक्षुक के रूप में बुद्ध कपिलवस्तु में उपस्थित हुए हैं। यशोधरा उन्हें राहुल से बढ़ कर और कौन-सी भिक्षा दे सकती है? यही इस चित्र का विषय है। यशोधरा के नेत्रों से श्रद्धा-युक्त आत्म-त्याग का भाव और भगवान् बुद्ध के नेत्रों से विश्व-कल्याण के निमित्त सात्त्विक ग्रहण का भाव टपक रहा है (चित्र नं० ३)।

इसी गुफा में 'छद्दंत जातक' की सुन्दर चित्रावली है, और यहीं हाथियों की एक दूसरी चित्रावली भी है, जिसमें 'गज-जातक' कथा का चित्रण किया गया है। इन हाथियों का इतना सुन्दर, सजीव और सहृदयतापूर्ण चित्रण हुआ है कि उसे देखकर बहुत आश्चर्य होता है। गज-जातक के चित्र में 'गजराज' के मिलन का बड़ा मर्मस्पर्शी दृश्य



चित्र नं० ३



त्रित्र नं० ४

२

है। पूरे दृश्य से प्रेम, वात्सल्य और करुणा टपकी पड़ती है। प्रश्न उठता है कि कैसे रहे होंगे वे चित्रकार जिनके सहानुभूतिपूर्ण हृदय ने इन मूक पशुओं की भावनाओं का भी साक्षात्कार करके इतनी सफलता-पूर्वक उन्हें व्यक्त किया है। वास्तव में विश्व-प्रेम और विश्व-मैत्री का पाठ पढ़ने वाले बौद्धों से ही यह सम्भव हो सकता था।

एक अन्य जातक में युद्ध का दृश्य बड़ी कुशलता-पूर्वक दिखलाया गया है। इस चित्र में लगभग तीन सौ मुखाकृतियाँ अब भी शेष हैं और प्रत्येक मुखाकृति पर युद्ध के भिन्न-भिन्न भाव स्पष्टतः अंकित हैं। एक स्थान पर गायक किन्नरों का बड़ा ही सुन्दर आलेखन हुआ है।

इसी गुफा में 'सर्वनाश' का अशुभ समाचार लाने वाले एक दुःखी राजदूत का चित्र भी है। अपने दंड के सहारे एक वृद्ध राजदूत खड़ा है। उसके दुःखित नेत्र सर्वनाश की सूचना दे रहे हैं और दाहिने हाथ की निराश मुद्रा मानो कह रही है कि सब समाप्त हो गया। नेत्र और मुख के भावों में कितनी पूर्णता और कितना अपूर्व सामंजस्य है। (चित्र नं० ४)। मूक होने पर भी यह चित्र जो कुछ कह रहा है, उसे वह वाचाल होकर भी नहीं कह सकता था।

१७ नम्बर की इसी गुफा में 'महाहंस जातक' की कथा भी चित्रित है, जिसे अपनी रंग योजना के लिये कुछ विद्वान् अजन्ता का एक प्रतिनिधि भित्ति-चित्र मानते हैं। एक सुन्दर कनात की पृष्ठ भूमि (धरातल) पर सारा चित्र अंकित किया गया है। भित्ति-चित्र में राजा अपने दरबारियों से घिरा हुआ बैठा है। इस चित्र में प्रायः सभी रंगों का उपयोग हुआ है। समय के प्रभाव से रंगों का बहुत कुछ सौन्दर्य नष्ट हो चुका है। फिर भी जो कुछ शेष है, उससे अजन्ता के चित्रकारों की रंग-योजना समझ में आ जाती है और कल्पना के आधार पर हम यह भी समझ लेते हैं कि आज से १५०० वर्ष पहले ये रंग कितने चमकदार और लुभावने रहे होंगे।

अजन्ता की चित्रकला की कुछ विशेषतायें—अजन्ता में दर्शक को जो वस्तु सबसे अधिक अपना ओर आकर्षित करती है, वह है वहाँ के भित्ति-चित्रों की महान् योजना और उनका वैभव। चित्रों की महानता और विशालता, शैली की सरलता स्वाभाविकता और कल्पना की उदारता इत्यादि ही ऐसी वस्तुयें हैं जो अजन्ता की कला को सचमुच महान् बनाती है। दृश्य संयोजन में केन्द्रत्व का बहुत अधिक ध्यान रक्खा गया है जिसका परिणाम यह होता है कि मुख्य चित्र की ओर शीघ्र ध्यान आकृष्ट हो जाता है। चित्र में अंकित महान् आत्माओं का सम्पूर्ण और सम्यक् चित्रण हुआ है और यही इन चित्रकारों की सबसे बड़ी सफलता है। प्रभावपूर्ण और वैभवपूर्ण रीति से स्थित आकृतियों की सीमा-रेखाएँ बड़ी ही सुन्दर हैं और इस बात की सूचना देती है कि कलाकारों की सौन्दर्य भावना बड़ी ही विकसित थी। ऐसा नहीं मालूम होता कि शारीरिक संतुलन और तज्जनित सौंदर्य प्राप्त करने के लिये कोई विशेष प्रयास किया गया है। रेखांकन बिल्कुल स्वाभाविक और उन्मुक्त है। संयोजन की दृष्टि से प्रत्येक आकृति अपने-अपने स्थान पर बिल्कुल ठीक है।

चित्रों का मुख्य विषय, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गौतम बुद्ध की जन्मान्तर की वे कथाएँ हैं जो जातक के नाम से विख्यात है। किसी मनुष्य को जातकों के अध्ययन के बिना गुफा देखने नहीं जाना चाहिए। फिर भी कुछ चित्रों के विषय धार्मिक न होकर सांसारिक और पार्थिव ही हैं और उनमें राज्य दरबारों का जीवन चित्रित है। अजन्ता के चित्रों को देखकर ऐसा मालूम होता है कि चित्रकारों ने इसी 'पृथ्वी पर स्वर्ग' की कल्पना को प्रत्यक्ष करके दिखला दिया है और उनके चित्रों का यह स्वर्गोपम संसार पवित्र स्थानों, पवित्र आत्माओं और सुन्दर आकृतियों से जगमगा रहा है। अजन्ता के चित्रकार कोरे भिक्षु ही नहीं मालूम पड़ते क्योंकि उनके चित्रों में

जीवन और समाज के नाना अंगों का सफल समावेश है। मानव और पशु, चर और अचर को समान रूप से इन चित्रकारों की सहानुभूति मिली है और सभी के जीवन और भावना का उनके चित्रों में हृदय-ग्राही चित्रण हुआ है।

कुछ लोगों ने अजन्ता की चित्रकारी का सबसे बड़ा लक्षण रेखाओं के सफल अङ्कन को ही माना है। उनका कहना है कि इन चित्रकारों की कला का प्रधान साधन रेखाएँ ही हैं और इसमे लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि अटूट, प्रवाहमय और भव्य रेखाओं का जितना सजीव, सशक्त और सौन्दयपूर्ण व्यवहार अजन्ता के भित्ति चित्रों में हुआ है, उतना अन्यत्र और कहीं नहीं। मानव शरीर के जैसे वे पूर्ण ज्ञाता थे। मानव के एक-एक अग का कुछ रेखाओं द्वारा जितनी सफलता-पूर्वक अजन्ता के चित्रकारों ने चित्रण किया है, उतना और किसी भी दूसरे देश के चित्रकारों ने नहीं किया है। उनकी तूलिका से स्वाभाविक रूप से निकली हुई इन रेखाओं ने जड़ को भी चेतन बना दिया है—उनके हाथों की उंगलियाँ जिह्वा से भी अधिक वाचाल हो उठी हैं, निर्जीव पत्थर में भी उन्होंने जीवन डाल दिया है। अपनी गतिशील रेखाओं के द्वारा इन चित्रकारों ने आकृति के अनुसार गोलाई, प्रकाश-छाया का प्रभाव, उभार, तथा स्थिति-जनित लघुता सभी कुछ दिखला दिया है। इन्हीं रेखाओं से वे गोलाई, घनत्व, उभार, गहराई, सभी कुछ सरलतापूर्वक बिना किसी प्रयास के प्रकट कर सके हैं। तूलिका पर इन चित्रकारों का पूर्ण अधिकार है और इन रेखाओं को देखने से ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि उन्हें कहीं लेशमात्र भी प्रयास करना पड़ा है। इन्हीं रेखाओं का सहारा लेकर अजन्ता के चित्रकार हाथों की मुद्राओं से, आँखों की चितवनों से तथा अंगों की भंगिमा से मानव-हृदय के नाना भावों का चित्रण कर गए हैं। अजन्ता के चित्रकारों के सशक्त हाथों में रेखाएँ सर्वशक्तिमान

हो उठी हैं—मानों उनके द्वारा सभी कुछ व्यक्त किया जा सकता है।

फिर भी अजन्ता की चित्रकला को रेखाओं की कृतियाँ मान लेना एकदम गलत होगा और इस तरह की गलती कुछ विद्वान् कर भी चुके हैं। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि प्राच्य चित्रकला का साधन रेखाएँ रही हैं। अजन्ता की कला उसका अपवाद नहीं है। फिर भी अजन्ता के चित्र रेखा-चित्र नहीं हैं। इनका मूर्तिकला से इतना घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध तथा ऐक्य है कि ये चित्र के रूप में मूर्ति के ही उदाहरण प्रतीत होते हैं। पाश्चात्य कला की भाँति छाया और प्रकाश के नियमों का अनुकरण न करने पर भी परिवर्तन-शील रेखाओं, आभूषणों के झुकाव और हलके गहरे तथा विभिन्न रंगों के प्रयोग द्वारा आकृति की गोलाई, उभार तथा घनत्व आदि सफलता-पूर्वक प्रदर्शित किए गए हैं।

अजन्ता की कला भाव-प्रधान है। कलाकार का प्रधान लक्ष्य भावों का चित्रण और तदनुकूल रसों का सृजन ही है। आँखों और उँगलियों के चित्रण में, आकृतियों की भंगिमा में तथा छोटी से छोटी वस्तुओं के अंकन में एकमात्र यही रहस्य और उद्देश्य छिपा है और इसमें कलाकार को अपूर्व सफलता मिली है। भावों का इतना स्पष्ट और हृदयग्राही चित्रण, इतने परिमाण में शायद ही विश्व में और कहीं हुआ हो। अजन्ता की यह विशेषता बहुत ही अधिक उभर आई है।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि भावों के स्पष्टीकरण और चित्रण में तल्लीन होकर अजन्ता के चित्रकार रूप-भावना और आकृति सौन्दर्य को भूल गये हैं। अजन्ता के चित्रों के शारीरिक सौन्दर्य की छटा अद्भुत है। अजन्ता की परिचारिकाएँ तक सुन्दर हैं यद्यपि रानियाँ, रानियाँ ही हैं, और सेविका सेविका ही। यहाँ तक कि अजन्ता

में जहाँ कहीं कठोर, भयंकर और असुन्दर का चित्रण हुआ है वहाँ भी उसे देखने पर सहानुभूति का सृजन होता है घृणा का नहीं।

भाव और आकृति के सौन्दर्य को दिखाने के लिए अजन्ता के कुशल-चित्रकारों ने जड़ और चेतन दोनों से प्रेरणा ग्रहण की है। कमल और हाथी इनमें प्रधान मालूम होते हैं। कमल-पुष्प से इन चित्रकारों ने बड़ी प्रेरणा ग्रहण की है। कमल-पुष्प अपने नाना रूपों में, अजन्ता में, प्रत्येक स्थल पर प्रयुक्त हुआ है। कमल का फूल, उसकी कलियाँ तथा कमल की नाल की बन्दनवारों का सभी जगह उपयोग हुआ है। कमल की इतनी मर्यादा है कि बोधिसत्व के चित्र के हाथ में भी कमल का फूल है। कमल के पुष्प को कला के क्षेत्र में इतना अधिक ऊँचा स्थान भारत के सिवा और कहीं नहीं मिला है। ऐसा





चित्र नं० ५

प्रतीत होता है कि कमल के पुष्प से इन चित्रकारों ने अपनी कला के लिए आदर्श संचय किया है। कमल की कोमल पंखड़ियों के सौन्दर्य, उसके नाल की सुन्दर लचीली भंगिमा और कमल पत्र के शान्तिदायक सौन्दर्य से प्रेरणा ग्रहण कर उसका उपयोग मानव-आकृतियों को और भी सुन्दर बनाने के लिए किया गया है। जल में रहते हुए भी जल के प्रभाव से मुक्त कमल से बढ़कर इन बौद्ध भिक्षुओं के लिए और अच्छा आदर्श हो ही क्या सकता था!



चित्र नं० ६



चित्र नं० ७



चित्र नं० ८



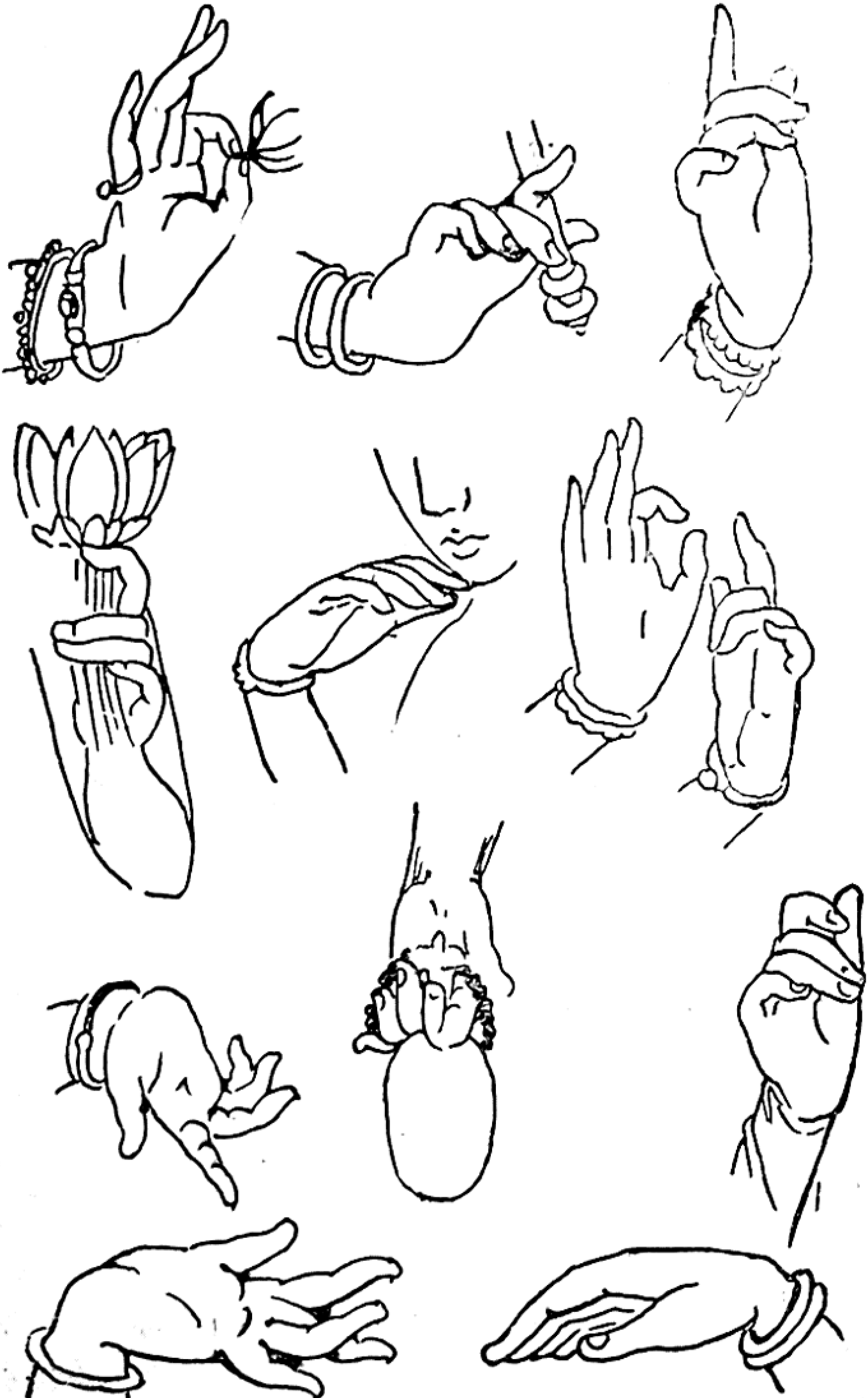
चित्र नं० ६

कमल की भाँति हाथी भी भारतीय कला का प्रिय विषय रहा है और बौद्ध कलाकारों को तो वह और भी प्रिय हो उठा था क्योंकि 'छंद्‌ंत' और 'गज-जातक, के अनुसार भगवान् बुद्ध एक जन्म में हाथी थे और सिद्धार्थ की माता ने स्वप्न में एक हाथी को अपनी कोख में प्रवेश करते देखा था। हाथियों के सजीव चित्रण के अतिरिक्त हाथियों की सुन्दर आकृति तथा उनकी लचीली सूँड़ से भी, मानव-आकार के (बाहों, भुजाओं इत्यादि के) सौन्दर्य-चित्रण के लिए, चित्रकारों ने पर्याप्त प्रेरणा पाई है।

अजन्ता के कला मंडप के दर्शन करने वाले को एक और भी वस्तु बहुत ही अधिक प्रभावित करती है। वह है, अजन्ता की कला में नारियों का स्थान। अजन्ता के भित्ति-चित्रों में नारी का बड़ा ही गौरवपूर्ण चित्रण हुआ है। स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों का बड़ा ही मनोरम चित्रण हुआ है। अजन्ता की स्त्रियों के खड़े होने का ढंग किंचित् भंगिमामय, बड़ा ही सुन्दर है। उनकी हस्तमुद्राओं का इतना सूक्ष्म और विविध चित्रण हुआ है कि जिसे देखकर आश्चर्य होता है। उनके केशकलापों का सौन्दर्य वर्णनातीत है। १५०० वर्ष पुराने होने पर भी अजन्ता के इन चित्रों से पश्चिम की स्त्रियाँ, केशों के सौन्दर्य के विषय में, बहुत कुछ सीख सकती हैं (चित्र नं० ८, ६)।

इतना ही नहीं, अजन्ता के भित्ति-चित्रों में पुरुषों के आभूषण और मुकुटों का भी बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। इन अलंकृत मुकुटों को देख कर हमें अचानक भारत के स्वर्ण-युग के वैभव और शिल्पज्ञान का स्मरण हो आता है। चित्र नम्बर ६ और ७ में ऐसे दो मुकुटों का चित्रण दिया गया है। इनकी बारीकी और इनके काम को देख कर हमें उस समय की सुरुचि पर ईर्ष्या होने लगती है।

अजन्ता के भित्ति चित्रों की मुद्राएँ भारतीय चित्रकला की अपूर्व देन हैं। अजन्ता के चित्रों में हस्त-मुद्राओं का अंकन भारत की कला



चित्र ० १०

में विशेष स्थान और महत्व रखता है । सुन्दर तथा सुकुमार भावों से स्पंदित सजीव, चंपक की कलियाँ सी उगलियाँ मानो सभी कुछ बतला रही हैं मानो अभी अभी बोल देंगी । भगवान बुद्ध के जीवन की कथा के कहने में उनका प्रमुख हाथ है । उगलियों की प्रत्येक गति और हाथ की प्रत्येक मुद्रा का अपना एक अलग अर्थ है । अजन्ता में प्रणाम करते हुए, फूल को पकड़े हुए और पात्र पकड़े हुए हाथ, पंखा डुलाती और चमर पकड़े तथा बाजा बजाती हुई उँगलियाँ और भिन्न भिन्न भावों को प्रकट करती हुई हस्त मुद्रायें भरी पड़ी हैं । उनका भावपूर्ण चित्रण अजन्ता की कला का विशेष अंग बन गया है । अपने चित्रों को बोलने की शक्ति प्रदान करने में असमर्थ चित्रकार इन मुद्राओं में इतना अधिक भाव लाने में समर्थ हुए हैं कि यदि बोलने की क्षमता भी इन चित्रों में होती तो इससे कुछ अधिक वे न कह पाते जितना कि ये मुद्रायें मूक रह कर कह रही हैं । चित्रकार ने मुद्राओं द्वारा भाव व्यक्त करने के लिये कहीं हथेलियों को थोड़ा मोड़ दिया है, तो कहीं उन्हें खोल दिया है इत्यादि इत्यादि (चित्र नं० १०)।

सभी मुद्राओं का कुछ विशेष अर्थ है । कथा के वातावरण के अनुसार कहीं ये याचना, कहीं विनय, कहीं आशा, कहीं समर्थन और कहीं निराशा तथा कहीं भय, कहीं सेवा, कहीं ग्रहण, कहीं दान इत्यादि के विभिन्न भावों को स्पष्ट और पूर्ण रूप में प्रकट कर सकी हैं । जहाँ पर किसी विशेष भाव की आवश्यकता नहीं है वहाँ भी हाथों का मनोरम चित्रण ही हुआ है । चमर डुलाती हुई, फूल लिये हुई, पात्र लिये हुई उंगलियों का इतना सजीव चित्रण हुआ है कि अन्यत्र उसकी समता नहीं मिलती । बाजा बजाते हुए हाथों के द्वारा चित्रकार ने भावों को बड़े ही सुन्दर ढँग से प्रकट किया है । करताल, वीणा आदि बजाती हुई उँगलियों का गति-बोधक और भाव पूर्ण चित्रण समस्त दृश्य को मुखरित करता हुआ सा प्रतीत होता है । अजन्ता में

आलंकारिकता की तो भरमार है। डिज़ाइनों में कलाकार ने देव-मानव, पशु पक्षी, हाथी-बैल, फूल-फल तथा रेखाओं और ज्यामिति की विविध आकृतियों का स्वच्छन्दता-पूर्वक व्यवहार किया है, किन्तु सबसे अधिक प्रधानता उसने कमल पुष्प को दी है। कमल का नाना रूपों में नाना प्रकार से व्यवहार हुआ है।

इस काल की लंका की सिगिरिया की गुफायें भी अपने उच्चकोटि के चित्रों के कारण विश्व भर में प्रसिद्ध हैं। उनकी भी शैली अजन्ता की शैली जैसी ही है और अन्य विषय तथा मुद्राओं के चित्रण इत्यादि भी समान हैं। अजन्ता-शैली के ही कुछ चित्र ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत बाघ गुफाओं, बम्बई की बादमी गुफाओं और मदरास की सित्तन-वासल गुफाओं में मिले हैं। इनका काल ६०० ई० से ६०० ई० तक का हो सकता है। बाघ की शैली अजन्ता-शैली के समान ही है, लेकिन कुछ दुर्बल है। बादमी के चित्र भी उच्च कोटि के हैं और सित्तन-वासल की शैली में भी स्पष्टतया अजन्ता-शैली की छाप है। इस गुफा में नर्तकियों की भाव-भंगी और हस्त-मुद्रा आदि का बड़ा ही भाव-पूर्ण चित्रण हुआ है। छत की सजावट भी सुन्दर है। यहाँ के अधिकांश चित्रों का विषय जैन है।

— —

मध्यकाल—७ वीं सदी से १५ वीं सदी तक

अजन्ता की कला के इस स्वर्णयुग के बाद भारतीय चित्रकला में एक ऐसे युग का आरम्भ होता है, जिसे हम भारतीय चित्रकला के अधःपतन का युग कह सकते हैं। यह दीर्घ समय भारत की राजनीति में हलचल और परिवर्तन का युग था। देश पर मुसलमानों का आक्रमण हो रहा था। धर्म क्षेत्र में यह युग बौद्ध धर्म के पतन और नव हिन्दू धर्म के उत्थान का युग था। इसलाम और हिन्दू संस्कृति के संघर्ष का भी यही युग था। अतएव कलाओं की उन्नति यदि इस युग में रुक गई तो कुछ विशेष आश्चर्य की बात नहीं। कला के क्षेत्र में, इस युग में, वास्तु और मूर्ति-कला में ही विशेष उन्नति हुई। ८ वीं से १० वीं सदी तक का समय भारतीय मूर्ति-कला तथा वास्तु-कला का स्वर्णयुग है। हिन्दू धर्म, अपने नवीन रूप में, मन्दिरों और मूर्तियों का धर्म होकर जनता के सामने आया। भगवान् के अवतार-बाद पर टिके हुए इस नवीन धर्म के अनुयायी भक्तों ने भगवान् की भव्य मूर्तियों और उनकी स्थापना के लिए कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण किया। इस नवीन धर्म की पूजा-प्रणाली भी अत्यन्त चित्रमय और आलंकारिक थी। नव-हिन्दू धर्म के इस नवीन उत्थान से प्रेरणा और उत्तेजना पाकर भारतीय वास्तु-कला और मूर्ति-कला में आश्चर्य-जनक उन्नति हुई और उसके जीवित उदाहरण अब भी एलोरा और एलिफैन्टा की गुफाओं में देखे जा सकते हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त इस काल की चित्रकला के जो थोड़े-बहुत उदाहरण प्राप्य हैं, वे सचमुच ही बहुत निम्न श्रेणी के हैं।

मध्य-काल के इस १००० वर्ष के युग को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :—पूर्व-मध्यकाल और उत्तर-मध्य-काल। पूर्व-मध्य-काल हम ७०० ई० से १००० तक मान सकते हैं। इस काल में एलोरा की गुफाओं के भित्ति-चित्र भी आ जाते हैं। अजन्ता के भित्ति-चित्रों की परम्परा को अटूट रखते हुए भी इन भित्ति-चित्रों में ह्रास के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। चित्रों में सजीवता नहीं है और रेखाओं में गति की कमी है तथा अलंकारों में जड़ता आ गई है। अजन्ता के भित्ति-चित्रों की शैली मानो यहाँ, रूढ़ि-बद्ध होकर निर्जीव हो गई है। एलोरा की गुफाओं के इन चित्रों के अतिरिक्त इस काल के कुछ अन्य भित्ति-चित्र भारत की कुछ दूसरी गुफाओं में भी पाये गये हैं, लेकिन उनके विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता। हाँ इस काल के साहित्य में चित्रों की पर्याप्त चर्चा मिलती है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण इसी काल का है। इस प्रसिद्ध ग्रंथ का कुछ अंश चित्रकला की विवेचना पर है। इस अंश का नाम ही 'चित्रसूत्र' है। इसमें चित्रों के अंकन, रंग-योजना, लक्षण इत्यादि सभी बातों पर अत्यंत विस्तार के साथ लिखा हुआ है। इस ग्रंथ में लिखा है कि नटों के अभिनय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए बिना चित्रकार अच्छी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। इससे यह भी पता चलता है कि भारतीय चित्रकला का गहरा सम्बन्ध नृत्य और अभिनय से रहा है और चित्रकार के लिए नृत्य और अभिनय की कला से परिचित होना आवश्यक है। इसी सूत्र में अजन्ता की चित्रकला की मनोरम अंग-भंगिमा तथा मुद्राओं इत्यादि का रहस्य भी प्रकट किया गया है। इस सूत्र में बहुत विस्तार-पूर्वक लिखा गया है कि भिन्न-भिन्न प्रकृति और अवस्था वाले मनुष्यों का रूप तथा वस्त्र कैसे होने चाहिए। ऋतुओं के चित्रण का भी बड़ा ही विस्तृत वर्णन है—वसंत में क्या-क्या चित्रण किया जाय और शिशिर में क्या क्या, इत्यादि। नव रस जिस प्रकार भारतीय साहित्य के आधार हैं,

वैसे ही भारतीय चित्रकला के भी, यह इस सूत्र से स्पष्ट मालूम हो जाता है। भिन्न-भिन्न रसों की योजना के लिए चित्रों में क्या दिखलाना चाहिए, इसका बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया है। भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' में भी, जो इसी काल की रचना है, चित्रों का वर्णन आया है। 'उत्तर-रामचरित' का प्रारम्भ चित्रों की चर्चा से ही होता है। राम के बचपन से लेकर सीता की अग्नि परीक्षा तक की पूरी कथा चित्रों में अंकित है। रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता तीनों इन चित्रों को देखते हुए और उनकी प्रशंसा करते हुए दिखलाये गये हैं। इस काल के अन्य ग्रन्थों में भी चित्रकला का पर्याप्त उल्लेख मिलता है और ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय चित्र-कला राजपरिवार की शिक्षा का एक अंग बन गई थी।

उत्तर मध्य काल--(१००० ई० से १६०० तक)—मध्य काल के इस अन्तिम भाग में ह्रास मानो अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है। भारतीय संस्कृति में चारों ओर से अवनति का युग प्रारम्भ हो जाता है जिसमें आशा की झलक नाम मात्र को भी नहीं मिलती। इस काल में भित्ति चित्रों की परम्परा समाप्त-सी हो जाती है। इस काल के उदयादित्य के (१०५६-१०८० ई०) बनवाये भित्ति-चित्रों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं कोई उदाहरण नहीं मिले हैं। इस काल के जो चित्र उपलब्ध हुए हैं, वे अधिकांश में पुस्तक-चित्र ही हैं। इनको हम दो भागों में बाँट सकते हैं—बौद्ध पुस्तकों के चित्र तथा जैन पुस्तकों के चित्र।

बौद्ध पुस्तकों के चित्र पहले के हैं और उनका समय दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक है। पुस्तकें उत्कृष्ट ताल-पत्र पर लिखी गई हैं। पत्रों पर बीच-बीच में महायान धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले बुद्धों और देवी-देवताओं के चित्र बने हुए हैं। भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथायें भी इधर-उधर अंकित हैं। चित्रों के अंकन में लाल, काला,

पीला, सफेद, हरा, गुलाबी, बैंगनी आदि रंगों का प्रयोग हुआ है। इस कला के चित्र मुख्यतः बंगाल, बिहार और नैपाल में उपलब्ध हुए हैं, और शैली की दृष्टि से तीनों में कुछ विशेष अन्तर नहीं है। इनकी शैली में यद्यपि अजन्ता की परम्परा वर्तमान है, फिर भी ह्रास के लक्षण स्पष्ट हैं। चित्रों की भाव भंगिमा मुद्राओं तथा अंगों में जड़ता आ गई है, गति और जीवन नहीं है। इसमें बड़े नेत्रवाली मुखाकृतियों की अधिकता है और मुख की अपेक्षा इनकी नाकें बहुत लम्बी हैं। फिर भी यह शैली जैन-शैली की अपेक्षा अजन्ता के अधिक निकट है।

जैन पुस्तकों के चित्र—ये चित्र श्वेतांबर जैन सम्प्रदाय की कल्पसूत्र, अंगसूत्र, नेमिनाथ-चरित्र तथा कथारत्नसागर आदि पुस्तकों में मिलते हैं। पुस्तकें ताल-पत्र पर भी लिखी गई हैं और कागज पर भी। लेकिन इसी शैली के कुछ ऐसे सचित्र ग्रन्थ भी मिले हैं, जिसका विषय जैन नहीं है। बालगोपाल-स्तुति, गीत-गोविन्द, दुर्गा सप्तशती, रति-रहस्य आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इसीलिये डाक्टर कुमार स्वामी ने इसे पश्चिम-भारत-शैली का नाम दिया है क्योंकि इस शैली के अधिकांश उपलब्ध चित्र पश्चिम-भारत में ही बने थे। लेकिन अब पूर्व-भारत में भी इस शैली के कुछ ग्रन्थ मिले हैं, जिससे यह नामकरण भी भ्रामक ठहरता है। अस्तु, नाम कुछ भी रक्खा जाय, इस काल के सभी चित्रों की कुछ अपनी विशेषतायें हैं जो उसे अपने से पहले तथा अपने से बाद आने वाले चित्रों से उन्हें अलग करती हैं।

इस शैली के चित्रों की सीमान्त रेखायें स्याही से खींची गई हैं। चित्र निष्प्राण हैं—अंग-भंगिमा और मुद्राएँ बिलकुल गतिहीन हैं। पशु, पक्षी और वृक्ष आदि को देख कर कठपुतली का आभास होता है। प्रकृति के चित्रण में अस्वाभाविक आलंकारिकता से काम लिया

गया है। और बहुत ही कम रंगों का प्रयोग हुआ है। लाल और पीले रंगों की प्रधानता है। चित्रों की आकृति में भी अस्वाभाविकता है मानो चित्रकार जीवन से प्रेरणा न पाकर रूढ़ियों से बँध कर चल रहे हैं। फलतः यह चित्र भाव शून्य हो गये हैं। इनमें नवीनता लेशमात्र भी नहीं है। नवीनता से यहाँ मतलब मौलिकता से है। वास्तव में इस शैली के चित्रों का अजन्ता से कुछ सम्बन्ध नहीं मालूम होता। इस शैली के चित्र भारतीय सुलिपि के एक अंगमात्र मालूम होते हैं। इस दृष्टि से उनका पर्याप्त मूल्य है और उनमें अपने ढंग की पर्याप्त कला कुशलता और निर्भीकता है। लिपियों में शृङ्गार की दृष्टि से सचमुच ये बहुत अच्छे हैं। यद्यपि रेखायें मोटी भद्दी लगती हैं फिर भी उनका भद्दापन कुशल हाथों की स्वतंत्रता का द्योतक है। रेखाओं में अपने ढंग की पर्याप्त गति है। रंग संख्या में कम होते हुए भी अधिक गहरे हैं और उनकी योजना सुन्दर है। इस शैली की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि इसमें विषय और कला की पुनरावृत्ति हुई है, कल्पना और नवीनता का अभाव मालूम होता है।

इन चित्रों में बौद्ध और जैन देवी-देवताओं के अतिरिक्त सरस्वती, लक्ष्मी आदि देवियों के चित्र भी मिले हैं। कागज पर अंकित चित्रों में जौनपुर के कल्पसूत्र के चित्र प्रधान हैं। इनके किनारों पर राग-रागिनियों और ताल आदि के चित्र बने हुए हैं। नृत्य आदि के भी चित्र हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विषय की दृष्टि से इस शैली का क्षेत्र विशेष विस्तृत है। इस शैली के चित्र तिब्बत, बर्मा और स्याम में भी मिले हैं।

यह शैली चल ही रही थी कि १५ वीं शताब्दी में भारत में फिर एक बार नवजीवन की लहर दौड़ गई। भारत का कला कौशल मानो ५०० वर्ष की गहरी नींद के पश्चात् फिर से जगने की तैयारी करने

लगा और संगीत, साहित्य, वास्तु आदि ललित कलाओं में सर्वतोमुखी उन्नति के चिह्न फिर दिखाई पड़ने लगे। चित्रकला का भी पुनरुत्थान हुआ। एक बार फिर इस कला को धर्म से उत्तेजना मिली, और एक बार फिर भारतीय चित्रकार ने धर्म से प्रेरणा पाई। भक्ति-आन्दोलन की धारा में सम्पूर्ण देश प्रवाहित होगया। मुसलमानों के एकेश्वरवाद के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए कबीर आदि महात्माओं ने जो निर्गुण ब्रह्म की उपासना का पन्थ निकाला वह तो उतना लोक-प्रिय नहीं हुआ; लेकिन वल्लभ और रामानुज आदि का सगुण मार्ग बहुत शीघ्र प्रचलित हो गया। भगवान् के सगुण रूप की उपासना और भक्ति का यह धर्म, हिन्दू धर्म का यह नवीन रूप, जनता का प्राण हो उठा। इस भक्ति-आन्दोलन से चित्रकला को भी उत्तेजना मिली। भगवान् कृष्ण के चित्र और उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं से सम्बन्धित चित्रों की माँग बढ़ गई। सगुण-भक्ति के प्रवर्तक महात्माओं के व्यक्ति-चित्रों की भी माँग बहुत बढ़ गई। संगीत की उन्नति के साथ रागमाला सम्बन्धी चित्र बने। कथा-काव्य की उन्नति के साथ उनको चित्रित करने की रुचि भी बढ़ी और इस प्रकार चित्रकला को फिर उत्तेजना और प्रेरणा मिली। धर्म-प्राण जनता की धर्म-पिपासा शान्त करने के लिए चित्रकला का माध्यम ग्रहण किया गया और उपरोक्त सुलिपि शैली का स्थान एक ऐसी जीवित शैली ने ले लिया जिसे हम राजस्थानी शैली कहते हैं, और जो उत्तरोत्तर पुष्ट होती गई है। इस शैली के कृष्ण सम्बन्धी तथा रागमाला सम्बन्धी अथवा कथा-काव्य सम्बन्धी जितने भी चित्र मिले हैं, वे सुलिपि शैली से विभिन्न हैं। इस शैली के चित्रों में स्वाभाविकता का संचार है और रूढ़ियों के परित्याग की चेष्टा का आभास है। सुलिपि शैली में स्त्रियों के वस्त्रों का चित्रण रूढ़िगत ही है, लेकिन इस नई शैली में वह अधिक स्वाभाविक है और उसमें यथार्थता



चित्र नं० ११



चित्र नं० १२



चित्र नं० १३



चित्र नं० १४

की पुट है। उस समय की स्त्रियाँ जैसे वस्त्र पहनती थीं, वैसे ही हैं। लेकिन यह अन्तर शैली का ही है। विषय दोनों के लगभग एक ही हैं। दोनों में कृष्ण, रागमाला, शृङ्गार और ऋतु सम्बन्धी चित्र ही मिलते हैं। अन्तर केवल इतना है कि इस शैली में व्यक्ति-चित्रों की बाहुलता है और जैन चित्रोंका अभाव है, जबकि सुलिपि शैली में व्यक्ति-चित्रों का अभाव और जैन चित्रों की बाहुलता थी; लेकिन जैसा अभी कहा गया है, दोनों की आलेखन शैली में अधिक अन्तर है। सुलिपि शैली के चित्र मुख्यतः ग्रंथों में हैं और इकहरे कागज पर बने हैं, जबकि राजस्थानी शैली के चित्र मुख्यतः अलग-अलग बने हुये हैं। रंगों में भी अन्तर हैं। सुलिपि शैली के लाल-पीले के स्थान पर यहाँ अनेक चटकीले से रंगों का प्रयोग किया गया है। इस शैली मे प्रारंभिक चित्र शेष बातों में सुलिपि शैली से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। भावों की शून्यता, मुखाकृति आदि का रूढ़िबद्ध चित्रण और प्रकृति का आलंकारिक चित्रण सभी में समानता हैं, जिसमे मालूम होता है कि राजस्थानी शैली इसी सुलिपि शैली का ही उन्नत रूप है। इस शैली की बराबर उन्नति होती गई और अपने पुष्ट रूप में यह मुगल के जोड़ की हो उठी है। इसी को डा० कुमार स्वामी ने राजपूत शैली की जिसमें पहाड़ी शैली भी सम्मिलित है, संज्ञा दी है। मुगलों के समय में इस शैली ने मुगल-शैली से बहुत कुछ लिया और उसको बहुत कुछ दिया है। विस्तार-पूर्वक इसके विषय में आगे लिखा जायगा। यहाँ हमें पहले मुगल-शैली के विषय में कुछ समझ लेना चाहिये।

मुगल कालीन चित्रकला—भारतीय चित्रकला के इस पुनरुत्थान के साथ-साथ भारत एक ऐसी जाति की छत्रछाया में आया, जिसमें कला प्रेम कूट-कूट कर भरा था। हमारा प्रयोजन मुगलों से है। मुगल साम्राज्य का जन्मदाता बाबर कला का प्रेमी ही नहीं, उच्च श्रेणी का साहित्यिक और चित्रकला का पारखी भी था। फारस

के अमर चित्रकार, विहिजाद के चित्रों की उसने बड़ी ही सुन्दर समालोचना की है। बाबर का यह कला-प्रेम वंशगत देन के रूप में कई पीढ़ियों तक चलता रहा। इन कला-प्रेमी मुगल सम्राटों की छत्रछाया में चित्रकला की फिर एक बार उन्नति हुई और उसमें फिर जीवन और सौन्दर्य का संचार हुआ। लेकिन ये सम्राट् विदेशी थे। अतएव इनके आश्रय में जिस चित्रकला का विकास हुआ, उस पर विदेशी प्रभाव का होना अनिवार्य था। बाबर के भारत पर आक्रमण करने से पहले ही ईरान में चित्रकला की अभूतपूर्व उन्नति हो चुकी थी और वहाँ विहिजाद ऐसे अमर कलाकार उत्पन्न हो चुके थे। फिर ईरान की चित्रकला का मुगल कालीन चित्रकला पर प्रभाव न पड़ता यह भला कैसे सम्भव हो सकता था। बाद को भी ईरान से मुगल सम्राटों का संपर्क बराबर बना रहा। अस्तु, भारतीय मुगल कालीन चित्र-कला पर ईरान की चित्रकला का भी प्रभाव पड़ा। हम इस प्रभाव को आगे चलकर विस्तार-पूर्वक देखेंगे।

मुगल कालीन चित्रकला का उत्थान और पतन मुगल साम्राज्य के उत्थान और पतन के साथ चलता है। बाबर और हुमायूँ के कला-प्रेमी होने पर भी इस दिशा में इनके शासन-काल में बहुत कुछ न हो सका। इसका कारण स्पष्ट है। बाबर और हुमायूँ राजनीतिक झंझटों में ही उलझे रहे। दिल्ली विजय के चार साल बाद ही बाबर की मृत्यु हो गई, और उसके पुत्र हुमायूँ का जीवन भी शेरशाह से लड़ने में ही बीता। इसीलिये मुगल साम्राज्य का वास्तविक प्रारम्भ हम अकबर के शासन काल से ही मानते हैं और यही मुगल शैली के प्रारम्भ का भी युग है। भारतीय चित्रकला की मुगल-शैली सम्राट् अकबर के दरबार में ही उत्पन्न हुई। जहाँगीर के शासन-काल में यह अपने वैभव की पराकाष्ठा पर पहुँच गई। शाहजहाँ के शासन-काल में उसमें ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे और औरंगजेब के शासन-काल में

उसकी मृत्यु हो गई। औरंगजेब कट्टर मुसलमान था। उसके शासन-काल में ललित कलाओं का बहुमुखी ह्रास आरम्भ हो गया। इस प्रकार चित्रकला का यह स्रोत २५० साल के भीतर, अपने विकास, उत्थान और पतन का युग देखकर ब्रिटिश साम्राज्य के प्रारम्भ होते होते छिन्न-भिन्न हो गया।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि मुगल चित्रकला का पैतृक गृह तो ईरान, समरकन्द और हिरात था, जहाँ तैमूर वंशीय सम्राटों के आश्रय में ईरानी चित्रकला अपनी उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच कर बिहिजाद ऐसे कलाकार उत्पन्न कर सकी। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने इस शैली का नाम ईरानी भारतीय शैली रक्खा है। वास्तव में मुगलों की भाँति मुगल शैली भी प्रारम्भ में किसी सीमा तक विदेशी ही रही है। लेकिन विदेशी होते हुये भी जिस प्रकार मुगल भारतीय हो गए, उसी प्रकार मुगल शैली पर ईरानी प्रभाव होते हुए भी भारतीयता की ही प्रधानता रही। आइने अकबरी से मालूम होता है कि अकबर के दरबार में भारतीय और ईरानी दोनों शैली के चित्रकार साथ-साथ मिल कर काम करते थे। ईरानी शैली की विभिन्न धाराओं में पारंगत अब्दुस्समद शीराजी, तब्रेज-निवासी मीर सैय्यद, फर्रूख काल-मुक इत्यादि विदेशी चित्रकारों का उल्लेख है। इनके साथ ही साथ जसवंत और बसावन जैसे प्रतिभासम्पन्न भारतीय शैली के हिन्दू चित्रकारों का भी वर्णन है। इन हिन्दू चित्र-कारों ने अपने को ईरानी शैली में भी किस सीमा तक ढाल लिया था, यह इसी से प्रकट होता है कि फारसी के प्रसिद्ध कवि निजामी की पुस्तक को चित्रित करने का काम इन्हीं को सौंपा गया था। कला के सच्चे पारखी और समन्वय बुद्धि वाले इस उदार सम्राट् के आश्रय में एक साथ काम करते-करते मेल, उदारता और सुरुचि के वातावरण में रहते हुये दोनों शैली के कलाकारों ने एक दूसरे से बहुत कुछ

सीखा, और सिखाया। फल यह हुआ कि शीघ्र ही दोनों शैलियों के मिलन और समन्वय से एक ऐसी भारतीय शैली का जन्म हुआ, जिसे हम मुगल शैली कहते हैं। यह सामंजस्य और सम्मिश्रण चित्र-कला के ही क्षेत्र में हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। अकबर-कालीन स्थापत्य, संगीत, सामाजिक जीवन, रहन-सहन, रीति, वेश-भूषा, सभी कुछ इस कथन की सत्यता की घोषणा करते हैं। चित्रकला भी इसका अपवाद नहीं है। परन्तु अकबर के समय में जिस नवीन शैली का विकास हुआ, वह कभी भी जनता की वस्तु न हुई। अकबर के दरबार में ही इसका जन्म हुआ और यह दरबार की ही कला होकर रह गई। इससे दरबारियों का ही मनोरंजन हुआ और राजघराने के समीक्षकों की आलोचना प्रवृत्ति को शान्ति मिली। दरबार के बाहर इससे लोग विशेष रूप से परिचित नहीं हुए। लेकिन समय के साथ-साथ यह अधिकाधिक जन-प्रिय होती गई और अन्त देखने से पहले जन-साधारण तक पहुँच गई। लेकिन इस प्रकार जो वस्तु जन-साधारण तक पहुँची, वह इस शैली के व्यक्ति-चित्र ही थे। इस शैली के चित्रों के विषय भी अधिकांश दरबारी ही हैं। सम्राट् के दरबार, उनके दरबारियों और उनकी जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का ही अधिक चित्रण हुआ है। सम्राट् की आज्ञा से कुछ कथाओं और पुस्तकों का भी चित्रण हुआ था। आइने अकबरी में लगभग चालीस चित्रकारों का उल्लेख है, जिससे, पता चलता है कि उस समय चित्र कला की प्रतिष्ठा थी और अत्यधिक चित्र बन रहे थे। फिर भी मुगल-शैली कभी भी अजन्ता के विस्तृत परिमाण और वैभव को नहीं पहुँच सकी। इसके मुख्य दो ही भेद हैं—(१) कथा और इतिहास के चित्र तथा (२) व्यक्ति चित्र।

जहाँगीर के समय में यह दरबारी-कला उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच गई। जहाँगीर उच्चकोटि का कला-प्रेमी, कला-समीक्षक, प्रकृति-

सौन्दर्य का उपासक और कला का आश्रयदाता था। व्यक्ति-चित्र और आखेटों तथा युद्धों का दृश्य-चित्रण ही इस काल के मुख्य विषय हैं, यद्यपि पशुप-क्षियों, पेड़-पौधों और फल-फूलों का चित्रण भी बादशाह को प्रिय था। जहाँगीर का प्रकृति-प्रेम इसके मूल में था। असाधारण फूलों और पशु-पक्षियों का यथार्थ चित्रण और नक़ल सम्राट् की आज्ञा से की जाती थी उनमें कुछ अब भी शेष हैं। उनकी यथार्थता देख कर आश्चय होता है और उनके असली होने का भ्रम होता है। इस समय तक पश्चिम से चित्रों का आना भी शुरू हो गया था। जहाँगीर को इन चित्रों की नकल कराने का भी शौक था।

शाहजहाँ के शासन-काल में पहले-पहल मुगल-शैली में ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। चित्रकार की तूलिका में अब पहले की शक्ति और जीवन का अभाव-सा मालूम होने लगता है। चित्रों में भाव-शून्यता दिखाई पड़ती है। रंगों की तड़क-भड़क बढ़ गई है। चित्रों में छोटी-से-छोटी बातों पर भी सिर खपाया गया है और सूक्ष्म काम की प्रमुखता है। रेखायें साफ और स्पष्ट हैं। फिर भी मानों उनमें भाव की कमी है। मुगलों के वैभव का इसमें प्रदर्शन हुआ है, लेकिन चित्रकार मानों इसी ऊपरी तड़क भड़क में डूब कर कला की आत्मा को भूल गया है। इस ह्रास का एक कारण शायद यह भी था कि सम्राट् की रुचि चित्र-कला से अधिक अब स्थापत्य की ओर हो गई थी, ताजमहल जिसका सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि है। इस काल में चित्रों की संख्या में कोई कमी नहीं हुई, लेकिन गुण में कमी अवश्य हो गई।

मुगल-शैली की विशेषतायें

चित्रों का विषय—मुगल-शैली के चित्रों का बहुत बड़ा भाग 'व्यक्ति चित्रों' से भरा हुआ है। फिर भी अनेक चित्रों के विषय ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध प्रति दिन के जीवन से है। अनेक चित्रों में आखेट, युद्ध, ऐतिहासिक घटनाओं, पौराणिक आख्यायिकाओं, दरबारों, पशु-पक्षियों और फल-फूलों तथा वृक्ष आदि का भी चित्रण हुआ है। किसी-किसी चित्र में धार्मिक विषयों को भी स्थान मिला है। चित्रों में आध्यात्मिकता नाम मात्र को भी नहीं है और न घरेलू जीवन के चित्र ही हैं। इस्लाम चित्र-कला के विरुद्ध है इसलिए मुसलमानों का धर्म चित्रों का विषय न हो सका। मुगलों का घरेलू जीवन भी अन्तःपुर के परदे में छिपा रहने के कारण चित्रित न हो सका। विषय की दृष्टि से मुग़ल कालीन चित्र-कला को हम निम्न भागों में बाँट सकते हैं—(१) अमीर हमजा, शाहनामा आदि भारतीय कथाओं के चित्र। (२) रामायण, महाभारत आदि भारतीय पौराणिक आख्यायिकाओं के चित्र। (३) ऐतिहासिक घटनाओं के चित्र। (४) नित्य के दरबारी जीवन, शिकार और युद्ध आदि के चित्र। (५) प्रकृति के नाना रूपों, वृक्षों, पशु-पक्षियों और फल-फूल आदि के चित्र (६) व्यक्ति-चित्र (चित्र नं० ११)। इन चित्रों की सामान्य विशेषता यह है कि इनमें यथार्थता और स्वाभाविकता अधिक होती है। धार्मिक और पौराणिक हिन्दू-कथाओं का चित्रण अकबर के समय में ही अधिक हुआ। जहाँगीर के प्रकृति-प्रेम के कारण प्रकृति के नाना रूप चित्र-कला के प्रिय विषय हो गये और उनमें स्वाभाविकता

और प्रकृति निरीक्षण की अधिकता हुई। जहाँगीर के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का चित्रण भी उसके समय में अधिक हुआ। जहाँगीर को जो फूल अथवा वृक्ष सुन्दर लगते तथा जो पशु-पक्षी उसे आकर्षित करते, उनका भी चित्र वह बनवा लेता था। इस प्रकार के चित्रों को बनाने वाले कलाकारों में मंसूर सबसे अधिक यशस्वी हुआ।

शाहजहाँ के समय में मुगल-शैली की एक विशेष शाखा अपनी विशेषताओं के कारण दिल्ली-कलम के नाम से प्रसिद्ध हो गई। दिल्ली-शैली अपने अवनत रूप में आज भी इस देश में वर्तमान है।

औरंगजेब के राज्य काल में इस शैली की बराबर अवनति होती गई। यह लगभग निश्चय सा ही है, कि अरसिक औरंगजेब से इस कला को किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिला, यद्यपि युवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक के उसके व्यक्ति-चित्र इस बात की सूचना देते हैं कि इस प्रकार के चित्र स्वयं उसकी अनुमति के बिना न बने होंगे। सम्राट् का प्रोत्साहन न पाने पर भी चित्र-कला को दरबारियों से थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन मिलता रहा और मुगल-शैली औरंगजेब के शासन-कल में जीवित रही। औरंगजेब के दक्षिण विजय के प्रयत्न से मुगल-शैली दक्षिण भारत में प्रविष्ट हुई और फैली। इस शैली का दक्षिण में जो विकास हुआ उसे हम दक्षिणी कलम के नाम से पुकारते हैं। अंतिम दिनों में मुगल-शैली के कुछ कलाकार पटना में जाकर बस गये और अपनी कला को अपने साथ ले गये। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल-वंशीय सम्राटों के दरबारों में मुगल-शैली जैसे-तैसे चलती रही। लखनऊ के नवाबों का आश्रय पाकर १८ वीं सदी के अन्त में, कुछ काल के लिए, यह फिर कुछ सशक्त हो उठी, लेकिन काम निम्न श्रेणी का ही रहा। १६ वीं सदी में उस पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा और इस शैली का अन्त हो गया। इस प्रकार हम देखते

हैं, कि इस दरबारी शैली का उत्थान और पतन मुगल साम्राज्य के उत्थान और पतन के साथ ही सम्बद्ध रहा।

शैली की दृष्टि से हम मुगल-शैली के चित्रों को चार श्रेणी में बाँट सकते हैं—(१) शैली के प्रथम चित्र, जो बिलकुल ईरानी कलम के हैं, (२) अकबर कालीन शैली के चित्र, (३) जहाँगीर कालीन परिपक्व मुगल-शैली और (४) शाहजहाँ के समय के वे चित्र जिनमें ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगे हैं।

ईरानी शैली—मुगल-शैली के सर्वप्रथम चित्र ईरानी शैली के हैं और उनमें भारतीयता नहीं है। मुगल-शैली के चित्रों के सभी संग्रहों में एकाध इस शैली के चित्र मिल जायँगे। ये उन चित्रकारों की रचनायें हैं, जो ईरान से आए थे और जिन्होंने भारतीय चित्र-कला के सिद्धान्तों के प्रभाव से बाहर रहकर रचनायें की हैं। इस शैली के चित्रों की अपनी विशेषतायें हैं। आकृतियों का चित्रण बिलकुल रूढ़िबद्ध और आलङ्कारिक है, लेकिन पृष्ठभूमि का बड़ा ही सुन्दर अंकन हुआ है। यदि पृष्ठभूमि में प्राकृतिक दृश्य है तो वृक्षों और फूलों के चित्रण से ईरानी कलाकारों के घनिष्ठ प्रकृति-निरीक्षण तथा उद्योग का आभास मिलता है। इस शैली की रंग-योजना बड़ी ही सुन्दर है। लाल, नीले और सुनहले रंग का पर्याप्त उपयोग हुआ है। काम की सूक्ष्मता अलंकृत, संयोजन, सधी हुई सुन्दर रेखायें, रूप-रेखाओं की स्पष्टता, पृष्ठभूमि और वस्त्रों पर स्वर्ण का प्रचुर प्रयोग, और वस्त्रों, तथा परदों इत्यादि में संकुलता, सुन्दरता, आलंकारिकता और बेलों का उपयोग इस शैली की कुछ अन्य विशेषताएँ हैं।

ईरानी शैली अलंकार प्रधान है। प्रकृति के नाना रूप, पर्वत, नदी, वृक्ष, पशु-पक्षी सभी का चित्रण आलंकारिक ही होता है। स्त्रियों और पुरुषों के चित्रण में भी इस आलंकारिकता ने उनका

पीछा नहीं छोड़ा है। स्त्री-पुरुष के चित्रण के लिए उन्होंने सरो के वृक्ष और लता को अपना आधार बनाया है। रेखाओं में गति है, लेकिन भारतीय रेखाओं की भाँति गुलाई नहीं है। उनके ईरानी चित्रकार प्रकाश और छाया का व्यवहार भी नहीं जानते। उनके चेहरे अधिकतर दो नेत्र वाले होते हैं।

अकबर काल में मुगलशैली:—अकबर के उदार शासन-काल में इस शैली में परिवर्त्तन हुआ। भारतीय राजस्थानी चित्र-कला और ईरानी शैली के सम्मिश्रण तथा समन्वय से एक नई शैली का जन्म हुआ, जिसे हम वास्तविक मुगल-शैली कह सकते हैं। इस शैली में विदेशी ईरानी शैली से अधिक उन्मुक्तता, यथार्थता, और स्वाभाविकता है तथा आलंकारिक रूढ़िबद्ध चित्रण की कमी हो गई है। उत्तरोत्तर यह शैली अधिक स्वतंत्र होती गई है। फिर भी इसमें पैतृक शैली के चिन्ह शेष हैं, यद्यपि इसका अपना निजी अस्तित्व है और इसकी अपनी निजी विशेषतायें हैं। मुगल-शैली में भारतीय वातावरण को स्थान मिला है और यह सच्चे अर्थ में भारतीय है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि इस शैली के द्वारा भारत की जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। जनता का हृदय और जनता का जीवन इसमें कभी चित्रित नहीं हुआ। फिर भी विषय भारतीय न होने पर शैली भारतीय ही है। इसकी शैली, रेखाओं का अंकन, रंग-संयोजन तथा उसका वातावरण बिलकुल भारतीय और ईरानी कलम से भिन्न है।

ईरानी शैली के विपरीत—इस शैली में प्रकाश और छाया के सिद्धान्तों का उपयोग करके आकृति की गोलाई (Modelling) का समावेश कर दिया गया है। चित्रों में जिस दृष्टि-परम्परा का व्यवहार हुआ है, वह भारतीय है। ईरानी शैली में पृष्ठभूमि के वृक्षों

और प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में आलंकारिक चित्रणों का प्रयोग हुआ है। मुगल-शैली में पेड़ आदि के इन आलंकारिक डिजाइनों के स्थान पर प्राकृतिक दृश्यों के स्वाभाविक चित्रण का सफल प्रयास दृष्टि गोचर होता है। मुगल शैली के कुछ चित्रों में स्थिति-जनित लघुता (सामने से देखने पर लम्बाई के कम हो जाने) के सिद्धान्त का भी उपयोग हुआ है। कलकत्ता के म्यूजियम में युद्ध का एक दृश्य है, जिससे इस कथन की पुष्टि होती है और मालूम पड़ता है कि मुगल-शैली के चित्रकार इस सिद्धान्त को समझते थे और उसे कार्य रूप में परिणत करने की चेष्टा करते थे।

ईरानी शैली के चित्रो के विपरीत—मुगल-शैली के चित्रों के संयोजन का अपना अलग ढंग है, जो ईरानी शैली से बिलकुल भिन्न है, और जिसमें अभिव्यंजना की प्रधानता है। इस शैली के चित्रों में आलंकारिकता के स्थान पर घटना को ही प्रधानता दी गई है। आलंकारिकता का स्थान सर्वत्र गौण ही है। मानव आकृतियों के चित्रण में जीवन और स्फूर्ति है और उनके वस्त्र तथा आभूषण ईरानी शैली से भिन्न हैं। वस्त्रों में शिकन और फहरान है जो ईरानी शैली में नहीं है। जल, स्थल, आकाश, पहाड़, वृक्ष, लता और पशु-पक्षी के चित्रण में भी विभिन्नता है। आलंकारिकता का स्थान स्वाभाविकता ने ले लिया है। वृक्षों में केला, वट, पीपल और आम आदि भारतीय वृक्षों का भी स्वाभाविक चित्रण हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि पृष्ठ भूमि का वातावरण विषय और शैली दोनों दृष्टि से भारतीय है। आकृतियों में एक नेत्रवाले चेहरों की ही अधिकता है, जैसा ईरानी शैली में बहुत कम है। मुगल-शैली की ये विशेषताएँ भारतीय चित्रकला की परम्परा की देन हैं। राजस्थानी शैली के प्रभाव और सम्मिलन के परिणाम-स्वरूप ही यह मुगल-शैली

आई है। इस मुगल-शैली का विधान भी भारतीय ही है। ये चित्र विस्तार की दृष्टि से दो फीट से अधिक लंबे और लगभग दो फीट चौड़े हैं और प्रायः सूती कपड़े पर बने हैं। ईरानी चित्रों के विधान में ये बातें नहीं है। इस तरह हम देखते हैं कि मुगल-शैली में भारतीयता की ही अधिक पुट है। अकबर कालीन ईरानी शैली में भारतीय संस्कारों और भारतीय परम्पराओं को ही अधिक प्रधानता दी गई थी। इसीलिये उसमें ईरान की अलंकारिकता, सजीवता और स्वाभाविकता आ गई है। इस प्रकार ईरानी और राजस्थानी शैलियों की विशेषताओं को ग्रहण कर और उनका उचित समन्वय तथा सामंजस्य स्थापित कर, अकबर के समय में, यह शैली बड़े सुन्दर रूप में प्रकट हुई है। यह अपने पैतृक ईरानी शैली के लक्षणों को ग्रहण करने पर भी सर्वथा भारतीय है। अकबर की उदार नीति ही इस समन्वय के मूल में है। चित्रों का विषय चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, शैली की एकता सर्वत्र बनी हुई है। इस एकता को हम रेखाओं की गुलाई और कोमलता, आकृतियों में गति और स्फूर्ति, हस्तमुद्राओं की सजीवता और अधिकाधिक प्रयोग, भारतीय वस्त्राभूषणों के व्यवहार और प्रकृति के स्वाभाविक यथार्थ चित्रण में पाते हैं। मुगल-शैली के चित्रों की एक और भी विशेषता है। इस शैली के चित्र एक से अधिक व्यक्तियों के सहयोग से भी बने हैं। चित्रों का अंकन एक ने, रंग-संयोजन दूसरे ने और किनारों को बनाने का काम किसी तीसरे व्यक्ति ने किया है।

जहाँगीर कालीन मुगल शैली—अकबर के समय में ईरानी और भारतीय शैली के समन्वय से जो नवीन शैली विकसित हुई, वह जहाँगीर के समय में पुष्ट और परिपक्व होकर पूर्णता को पहुँच गई है। समाहार और सामंजस्य का युग समाप्त हो गया है और अभिव्यक्ति और प्रसार का युग आरम्भ हो गया है। जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है, इस काल में कुछ संकीर्णता आ गई है। क्योंकि जहाँगीर

उतना उदार नहीं था, जितना उसका पिता था यही कारण है कि जहाँगीर-कालीन चित्रकारों में नब्बे प्रतिशत हिन्दू चित्रकारों के होते हुए भी पौराणिक, धार्मिक, तथा काल्पनिक कथाओं का चित्रण नहीं के बराबर है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, चित्रकला का विषय जहाँगीर और उसके दरबारियों का मनोरंजन रह जाता है। लेकिन शैली की दृष्टि से यह समय मुगल-शैली की पराकाष्ठा का समय है। इस काल में मुगल शैली ईरानी प्रभाव से मुक्त हो गई है। उसमें स्वाभाविकता आ गई है। उसमें प्रकृति के नाना रूपों का बड़ा ही सुन्दर स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण हुआ है। वृक्षों और फूलों, पशुओं और पक्षियों का इतना यथार्थ स्वाभाविक चित्रण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इस स्वाभाविकता के मूल में जहाँगीर का प्रकृति-प्रेम और उसका प्रकृति-निरीक्षण ही है। जहाँगीर का प्रकृति-प्रेम विख्यात है। उसने कुछ चित्रकारों को आज्ञा दी थी कि वे सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण करें और जो विचित्र वृक्ष, फल, फूल अथवा पशु-पक्षी दिखलाई पड़ें, उनका चित्रण कर लें। फल-स्वरूप पशु-पक्षियों और फूल-फलों का एक ऐसा अनुपम चित्र-ग्रंथ तैयार हो गया, जो अपनी यथार्थता के लिए अद्वितीय है। इनमें से कुछ चित्र अब भी उपलब्ध हैं। तुर्की मुर्ग का एक चित्र कलकत्ता के अजायब घर में विद्यमान है। एक दूसरा चित्र शिकारी बाज पक्षी का है जो लंदन के संग्रहालय में है। प्रकृति के नाना रूपों का यह चित्रण जहाँगीर कालीन मुगल-शैली की अपनी विशेषता है। इस स्वाभाविकता की छाप उसके समय के आखेट और युद्ध-सम्बन्धी उन चित्रों पर भी पड़ी है जिनमें पशुओं का अंकन हुआ है। मृगया का चित्रण भी जहाँगीर के चित्रकारों का प्रिय विषय था। इस काल के कितने ही चित्रों में सम्राट् को शेर का शिकार करते हुए चित्रित किया गया है। ये चित्र बड़े ही सजीव और गतिपूर्ण हैं। इनमें यथार्थता की ही प्रधानता है। हाथी, घोड़े, शेर,



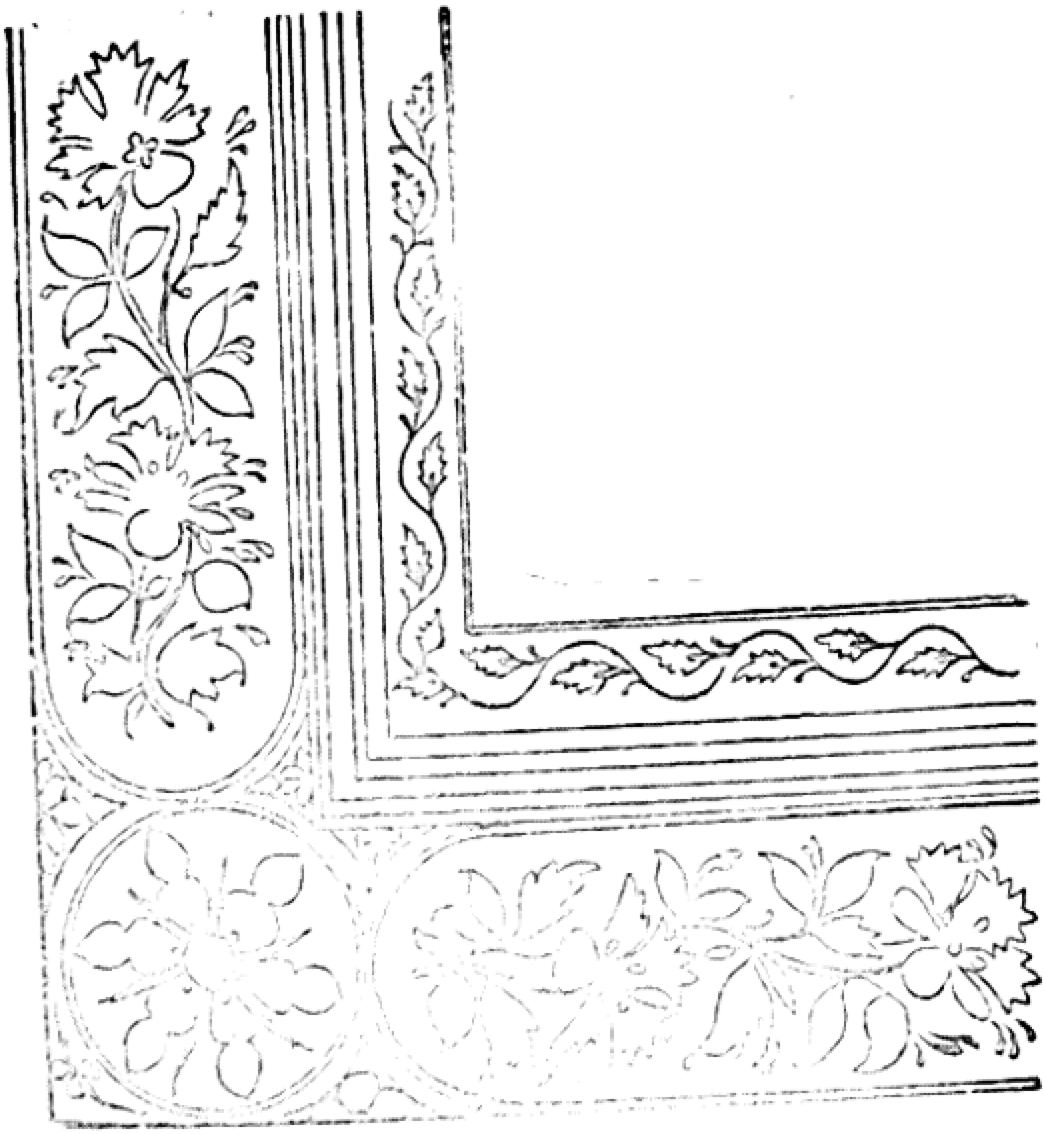
चित्र नं० १५

शिकारी सभी के चित्रण में बड़ी गति, जीवन तथा शक्ति है ! चित्रण बड़ा ही भाव-पूर्ण है और जड़ता तथा आलंकारिकता नाम मात्र को भी नहीं है।

इस प्रकार के चित्रों में प्राकृतिक दृश्यों का बड़ा ही भाव-पूर्ण और सूक्ष्म चित्रण हुआ है, जिससे चित्रकार के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का पता चलता है। सुदूरवर्ती पहाड़ियों और पास की उन झाड़ियों का जिनमें शेर के छिपने के स्थान हैं, यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण हुआ है, जो बहुत अनुपम है। इन चित्रों में ताल और खजूर के वृक्षों, बैंगनी रंग के फूलों वाले केले के वृक्षों. अथवा सुनहले बौरों वाले आम के वृक्षों एवम् अन्य सभी वृक्षों और झाड़ियों का बड़ा ही सूक्ष्म और स्वाभाविक चित्रण हुआ है। (चित्र नं० १५)

चित्रों के हाशियों की सजावट भी जहाँगीर के समय में ही अधिक उन्नत हुई। जहाँगीर के दरबार के चित्रकारों ने इधर अधिक ध्यान दिया है। इस काल के चित्रों के हाशिये भी उच्च श्रेणी की कला के उदाहरण हैं कदाचित् इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ये हाशिये स्वयं पूर्ण कला हैं। चित्रों को इस प्रकार के सुन्दर हाशियों से सुसज्जित की प्रथा पहले भी थी, लेकिन जहाँगीर के समय में उसमें अधिक स्वाभाविकता और सुन्दरता आ गई है। चित्रों के इन कलापूर्ण हाशियों के निर्माण में पुष्पित पौधों, लताओं और बेलों का आलंकारिक उपयोग किया गया है। बेल-बूटों के बीच में यदाकदा, तितलियों, चिड़ियों तथा दूसरे पशु-पक्षियों का चित्रण हुआ है। इसका ध्यान रक्खा गया है, कि इन हाशियों का चित्रों और उनके विषयों से सामंजस्य हो। हाशियों की रंग योजना भी केन्द्रीय चित्र की रंग-योजना के अनुकूल ही रहती है। ये हाशिये रंग-योजना और आलंकारिकता की दृष्टि से इतने सुन्दर हैं कि कभी कभी तो इनकी

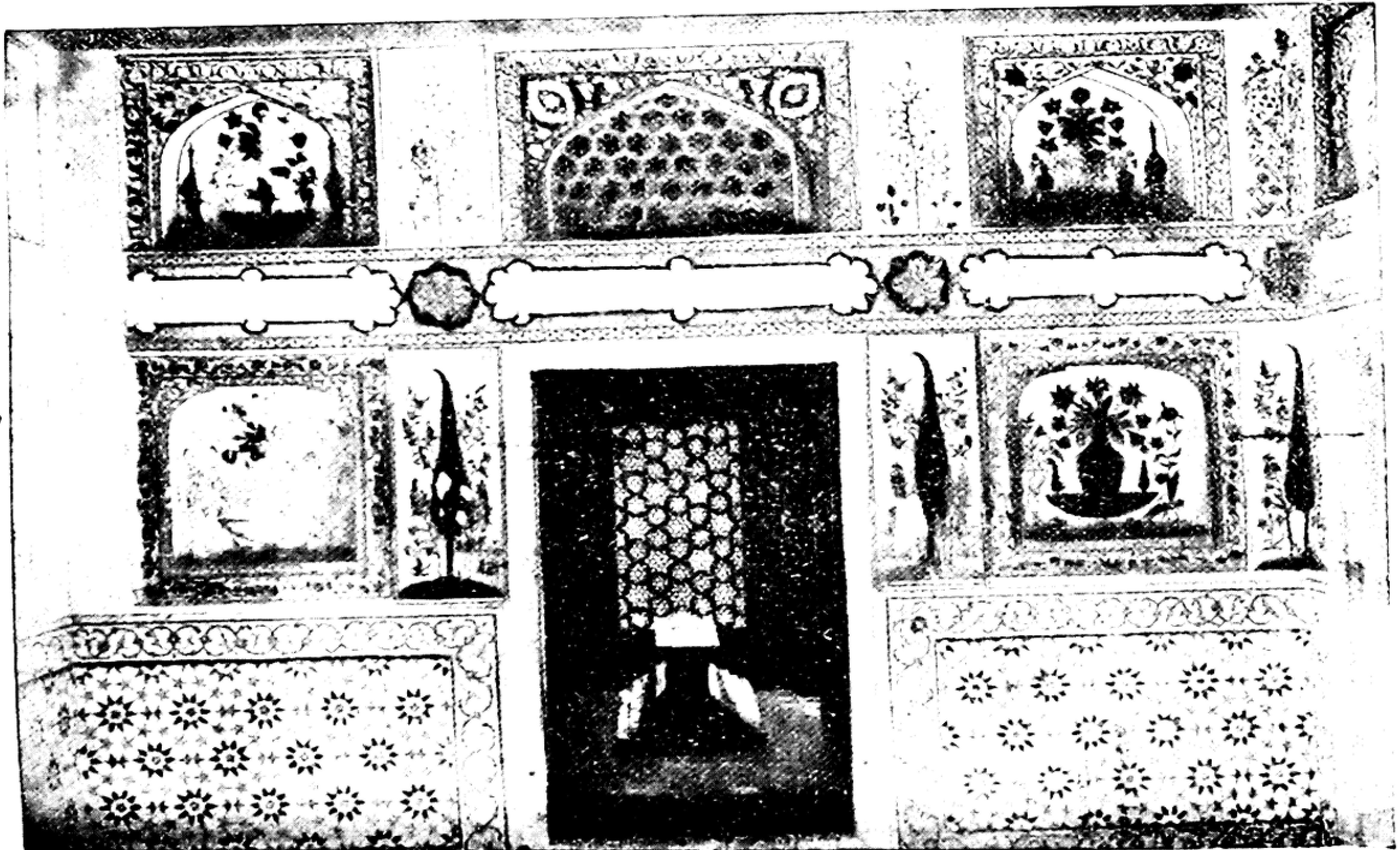
कारीगरी मूल चित्र से भी बढ़ जाती है। ऐसा मालूम होता है कि इन हाशियों को भी चित्रकार ही तैयार करते थे। इन हाशियों से



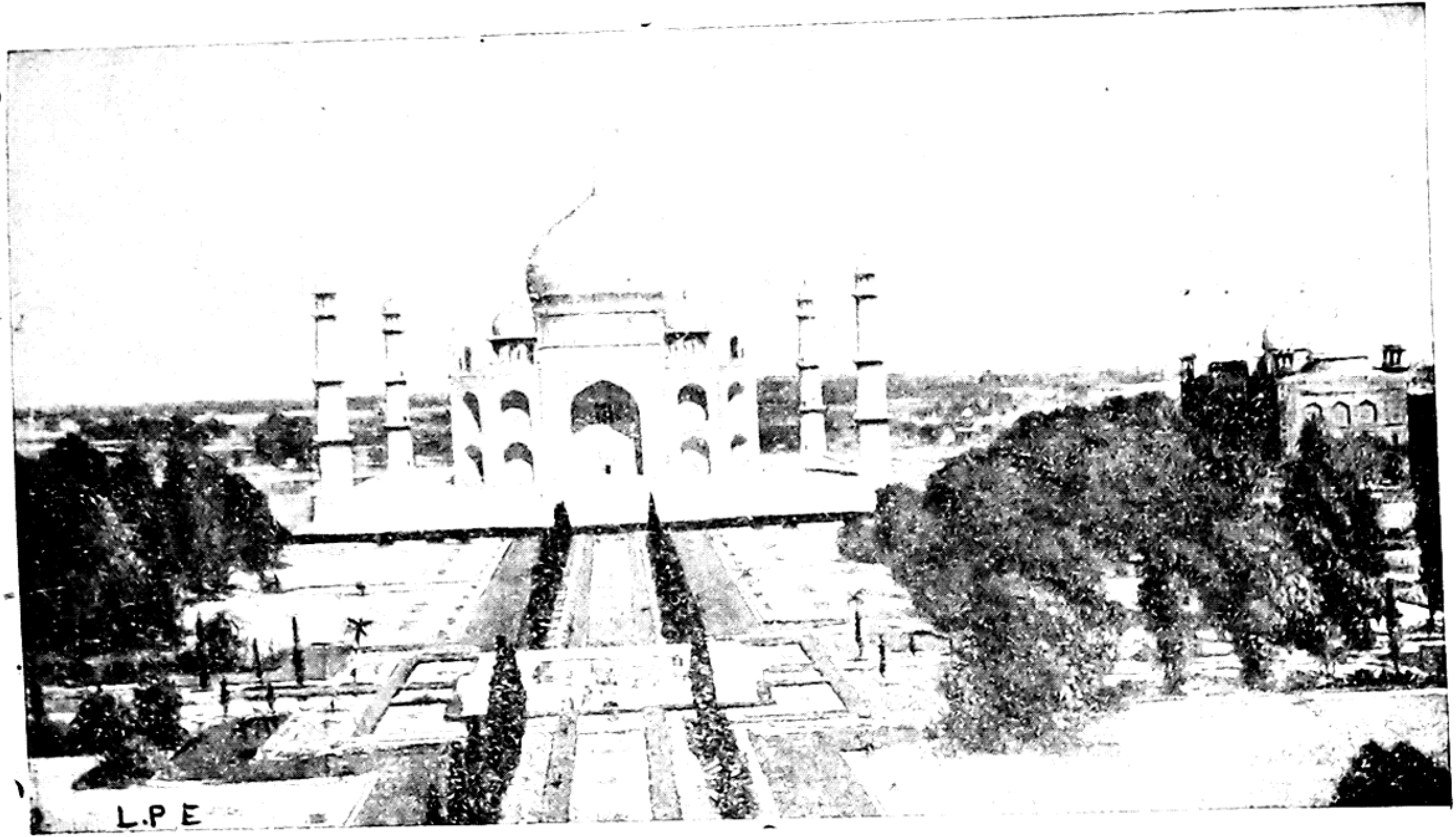
चित्र नं० १६ (क)

मुगल-शैली के चित्रों का सौन्दर्य दूना हो गया है। इनके निर्माण में जहाँगीर के समय के चित्रकारों के प्रकृति निरीक्षण और प्रकृति-चित्रण का पूरा-पूरा उपयोग हुआ है। लेकिन हाशिये के सौंदर्य के लिये उपयुक्त पेड़-पौधों की आकृति इतनी आलंकारिक बना दी गई है कि वे पहचाने नहीं जाते। उन पर कभी-कभी सोने की राख का छिड़काव भी कर दिया जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि एक से अधिक दिशा में जहाँगीर-कालीन चित्र अकबर के चित्रों से आगे बढ़ गये हैं। फिर भी जहाँ दरबारी दृश्यों का चित्रण हुआ है वहाँ सजीवता और गति का अभाव



मुग़ल कालीन पच्चीकारी का नमूना
चित्र नं० १५ (ख)



ताजमहल

चित्र नं० २६ (ग)

है। गंभीरता और दरबारी शिष्टाचार के कारण एक प्रकार की जड़ता आ गई है, मानो चित्रकार यहाँ अपनी तूलिका का व्यवहार करने में स्वतंत्र नहीं है, मानो उसकी तूलिका को जैसे सीमित और संकीर्ण हो कर चलना पड़ा हो। इसका परिणाम यह हुआ है कि यहाँ उस स्वाभाविकता, सजीवता और गति का अभाव दिखाई पड़ता है, जो जहाँगीर-कालीन मुगल शैली की अपनी विशेषताएँ हैं।

शाहजहाँ और मुगल शैली का ह्रास—अभी जिस दरबारी शिष्टाचार की चर्चा ऊपर हुई है, वह शाहजहाँ के समय में और भी बढ़ जाती है। चित्रकला मुगलों के वैभव और विलास को चित्रित करने में ही सीमित होकर रह जाती है। सम्राट का इससे एक प्रकार का सम्बन्ध-विच्छेद सा हो जाता है; क्योंकि उसे वास्तविकता से अधिक प्रेम है। इस समय के चित्रों में बड़ा ही सूक्ष्म काम हुआ है। विवरणों का सूक्ष्म चित्रण है। चटकीले रंगों का प्रयोग हुआ है। संयोजन और रंग योजना में चटक-मटक और विलास है। अंग-प्रत्यंग की क्रमबद्ध चित्रण और हस्त-मुद्राओं के सुन्दर अंकन हैं। शैली में कला की दृष्टि से कहीं भी दुर्बलता न रहने पर भी चित्रों में भाव और जीवन का अभाव-सा है। शरीर के सौन्दर्य में से मानो आत्मा का सौन्दर्य नष्ट-सा हो गया है। चित्रकार की तूलिका में मानो वह शक्ति नहीं रह गई है, जिसके कारण उसके चित्र 'बोल' से उठते हैं। दरबारी शिष्टाचार के कारण स्वाभाविकता के स्थान पर एक प्रकार की कृत्रिमता और जड़ता आ गई है।

मुगल शैली के व्यक्ति-चित्र—मुगल शैली की चित्रकला को व्यक्ति-चित्रों की कला कहा गया है, और इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय चित्रकला की इस शाखा की सबसे अधिक उन्नति इसी समय में हुई। फिर भी व्यक्ति-चित्रण भारत की चित्रकला का आदि

युग से ही एक प्रिय अंग रहा है। 'ऊषा अनिरुद्ध' की पूर्वोक्त कथा से भी इस मत का समर्थन होता है। सम्भव है कि अजन्ता के भित्ति-चित्रों में कुछ व्यक्ति-चित्र भी हों। भगवान् बुद्ध के व्यक्ति-चित्रण का उल्लेख भी स्थान-स्थान पर मिलता है। आठवीं शताब्दी में सिन्ध के प्रथम मुसलिम आक्रमणकारी के पास कुछ हिन्दू चित्रकार उसका व्यक्ति-चित्र अंकन करने के लिए गये थे। कहने का तात्पर्य यह कि व्यक्ति-चित्र का आलेखन सदा से भारतीय चित्रकारों का प्रिय विषय रहा है। संस्कृत की पुस्तकों में चित्रकार को रूपकार कहा गया है जिससे कदाचित् यह प्रकट होता है कि रूप अथवा व्यक्ति-चित्रण उनका प्रधान कार्य था। व्यक्ति-चित्रकार को रूपकार कहना ही अधिक अच्छा मालूम होता है।

मुगल-शैली के व्यक्ति-चित्रों के भी दो भाग हैं। कुछ चित्र ईरानी तूलिका के हैं। ये चित्र या तो मुगल अपने साथ लाए अथवा ईरानी स्कूल के रूपकार ने भारतीय शैली के प्रभाव से बाहर रहकर ही इन्हें बनाया। इनकी सपाट रेखायें और इनमें प्रकाश-छाया के प्रयोग का अभाव इनके विदेशी होने की सूचना देता है। इस तरह के व्यक्ति-चित्रों के उदाहरण बहुत ही कम संख्या में पाए जाते हैं। मुगल-शैली के व्यक्ति-चित्रों पर भी अन्य चित्रों की भाँति भारतीय प्रभाव है और कला का यह भाग उनके उदार सामंजस्य का परिणाम है। मुगल सम्राटों में व्यक्ति चित्र अंकित करवाने की रुचि थी। आइने-अकबरी में लिखा है कि स्वयं सम्राट् अकबर अपना व्यक्ति-चित्र अंकित करवाने के लिये बैठते थे। उन्होंने यह आज्ञा भी प्रदान की थी कि सभी दरबारियों के व्यक्ति-चित्र प्रस्तुत किये जायँ। जहाँगीर को भी इस कम रुचि न थी। यहाँ तक कि औरंगजेब के भी युवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक के कितने ही व्यक्ति-चित्र हैं। निश्चय है कि उसे भी अंकन के लिये रूपकार को समय देना पड़ा होगा; क्योंकि रूपकार के



चित्र नं० १८



चित्र नं० १७

लिये केवल कल्पना के बल पर काम करना असम्भव रहा होगा। मुगलों के दरबार में कितने ही रूपकार हिन्दू थे। मुगलों के वैभव से व्यक्ति-चित्रण को उत्तेजना मिली और रूपकार की कला पल्लवित हुई।

मुगल सम्राटों और राजकुमारों के व्यक्ति-चित्र उपलब्ध हैं। यद्यपि और लोगों, राजा-महाराजों और सन्त-फकीरों तथा अमीर-उमरावों के चित्र भी पर्याप्त संख्या में प्राप्त हैं। कहीं दो तीन सम्राटों के बैठे हुए व्यक्ति-चित्र भी बने हैं, लेकिन अधिकांश व्यक्ति-चित्रों में एक ही खड़ी हुई आकृति है। (चित्र नं० १७)

व्यक्ति-चित्रों में प्रायः चित्रित व्यक्ति खड़ा होता है (चित्र नं० १७-१८)। चित्र की पृष्ठभूमि प्रायः बिना किसी रंग की अथवा हलके धुँधले रंग की होती है, और इस पृष्ठ-भूमि पर चित्रित-व्यक्ति का रंग इससे गहरा होता है। कुछ चित्र ऐसे भी हैं, जिनमें पृष्ठभूमि हरी और काली है। गोलाई और उभार उत्पन्न करने के लिए केवल हलकी छाया, कोमल और परिवर्तनशील रेखाओं का प्रयोग हुआ है; मुगल सोना और चाँदी के जरी के वस्त्रों का उपयोग करते थे। इसलिये इन व्यक्ति-चित्र के पहनावों में चहकते हुये चटकीले सुनहरे और रुपहले रंगों का प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं सूक्ष्म मलमल और तंजेब का भी प्रयोग हुआ है, जिनके भीतर से शरीर स्पष्ट दिखाई पड़ता रहता है।

संक्षेप में यही मुगल-कालीन व्यक्ति चित्रों की योजना है, लेकिन यह तो ऊपर का काम है। मुगल-कालीन रूपकार की प्रतिभा का सच्चा प्रदर्शन तो वास्तविक आकृति के अंकन और व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में हुआ है। टेकनिक की दृष्टि से मुख और सिर का चित्रण बारीकी और कार्यपटुता का अनुपम उदाहरण है। व्यक्ति-चित्र में रूपकार ने रूप अंकन के साथ-साथ स्वभाव चित्रण में जो पटुता दिखलायी है, वह सचमुच प्रशंसनीय है। अनुभवी रूपकार को मानव-प्रकृति का

पर्याप्त ज्ञान है और ऐसा मालूम होता है कि अपने व्यक्ति विशेष के मनोविज्ञान से वह पूर्णतः परिचित है। रूपकार अपने विषय की आत्मा को चित्रित करने में समर्थ हुआ है और हम मानो सचमुच व्यक्ति के हृदय में झाँक कर देख रहे हैं। रूपकार के लिए कुछ नियम और विधान थे जिनका अनुसरण उसे करना होता था और जिनका उल्लंघन वह नहीं कर सकता था। इस प्रकार की रूढ़िबद्ध कला तभी तक सजीव और सशक्त रह सकती है, जब तक वह प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों के हाथ में रहती है। यही कारण है कि मुगल-कालीन व्यक्ति-चित्र ऊपर से रूढ़िबद्ध रूप-चित्रण और आलंकारिक ही मालूम होते हैं, लेकिन साथ ही अपनी प्रतिभा के बल पर मुगल-कालीन रूपकार ने उनमें जीवन भी डाल दिया है। इस श्रेणी के रूप-चित्र कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

राजस्थानी शैली

मुगल-कालीन चित्रकला की व्याख्या करते समय राजस्थानी शैली की चर्चा हो चुकी है। हमने देखा है कि इस शैली के प्रभाव में आकर मुगलों की ईरानी शैली में भारतीयता का संचार हुआ। हम यह भी देख चुके हैं कि इस शैली का सम्बन्ध सुलिपि शैली से भी है जिसका परिवर्तित और परिष्कृत रूप हमें इस शैली में प्राप्त होता है। यदि आप मुगल-कालीन चित्रों के किसी संग्रह को देखिये तो उसमें कुछ ऐसे चित्र भी आपको मिल जायँगे जो मुगल-शैली के चित्रों से भिन्न हैं और टेकनिक की समानता होते हुए भी जिनकी आत्मा बिलकुल ही भारतीय है। यही राजस्थानी शैली के चित्र हैं। इस शैली की अभिव्यक्ति भारतीय है और हम इसे अजन्ता से उत्पन्न कह सकते हैं। देखने से ही मालूम हो जाता है कि यह मुगल-शैली से अधिक प्राचीन और गंभीर है। हम देख चुके हैं कि १५ वीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के युग में लगभग ७०० वर्ष के बाद इसमें फिर नव जीवन का संचार हुआ। भक्ति-आन्दोलन और नवीन हिन्दू धर्म से प्रेरणा पाकर यह नई दिशा में विकसित हुई और जब अकबर के दरबार में, इस उदार सम्राट् की छत्र-छाया में कलाकारों का संगठन हुआ तो इस शैली के चित्रकार भी वहाँ पहुँच गये जिनके विषय में अबुलफजल ने कहा है कि हिन्दू चित्रकारों के चित्र हम लोगों की भावना से कहीं ऊँचे होते हैं और सारे संसार में ऐसे कलाकार कम हैं, जो उनके समक्ष हों। इस प्रकार के प्रतिभा-सम्पन्न चित्रकार अकबर के दरबार में पहुँच गये और ईरानी चित्रकारों के साथ मिल कर काम करते रहे। उन्होंने सम्मिलित प्रयत्न से मुगल-शैली को जन्म दिया और

बनाया। इनके दूसरे भाई बन्धु भी थे जिन्होंने दरबारी कला के प्रभाव से दूर रह कर अपना स्वतंत्र विकास किया और मुगलों के साथ ही एक ऐसी शैली का विकास करते रहे जो सच्चे अर्थ में भारतीय और जनता की कही जा सकती है। अजन्ता के बाद इस शैली के ह्रास और विकास का इतिहास हम दे चुके हैं। इसे ही कुछ लोग राजपूत शैली भी कहते हैं। कुछ समय तक जयपुर हिन्दू-चित्र-कला का प्रधान केन्द्र बना रहा और इसीलिये कुछ लोग राजस्थानी शैली को जयपुर शैली भी कहते हैं यद्यपि इस तरह उसका क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है क्योंकि इस शैली का क्षेत्र अधिक विस्तृत रहा है। इसी शैली की एक शाखा सत्रहवीं शताब्दी में पहाड़ी शैली के नाम से विख्यात हुई जिसके विषय में हम आगे कहेंगे। हम पहले इस राजस्थानी शैली की ही विशेषता देखेंगे। हमने राजस्थानी शैली के भीतर पहाड़ी शैली को शामिल कर लिया है, यद्यपि इन दोनों शैलियों में अन्तर भी है।

मुगल और राजस्थानी दोनों शैलियाँ देश में साथ-साथ चलती रहीं। अभी कुछ ही दिन पहले लोग पूरे उत्तर भारत के चित्रों को मुगल-शैली के अन्तर्गत ही रखते थे लेकिन धीरे-धीरे जब उनके विषय और शैली का आलोचनात्मक अध्ययन हुआ तो दोनों का अन्तर स्पष्ट हो गया और विद्वानों ने समानान्तर चलती हुई इन दोनों शैलियों का अस्तित्व स्वीकार किया। स्थूल रूप में दोनों शैलियों में अन्तर यह है कि मुगल-शैली दरबारी और अमीरों के विलास की सामग्री है और यथार्थता उसका प्रधान गुण है, जब कि राजस्थानी शैली टेकनिक में समान होते हुए भी जन-साधारण की वस्तु है और रहस्य तथा धार्मिकता उसका प्रधान गुण है। एक ऐहिक है, दूसरी आध्यात्मिक। एक का लक्ष्य अमीरों का मनोरंजन है, दूसरी में जनता का हृदय धड़कता है। राजस्थानी शैली के चित्रों में अजन्ता के भित्ति-चित्रों का-सा धार्मिक उत्साह है। अन्तर केवल इतना है कि बौद्ध धर्म की गतिहीन शान्ति

का स्थान क्रियात्मक और गतिशील ओज ने ले लिया है। धर्म उसका प्रधान विषय है। लेकिन इस शैली में भारत के नित्य के जीवन के प्रत्येक पहलू की सुन्दर अभिव्यक्ति भी हुई है। देश की पौराणिक और ग्राम्य आख्यायिकायें भी इसी शैली के विषय रही हैं और हिन्दुओं के नित्य के जीवन का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन इस शैली में हुआ है। साधारण जनता के द्वारा ही जन-साधारण के मनोरंजन और शान्ति के लिये ही इस शैली के चित्र बने हैं और सीधे-सादे भारतीय ग्रामीण के सीधे-सादे जीवन को यहाँ बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है। उसका नित्य का पैतृक धंधा, उसके मनोरंजन के खेल-तमाशे, उसका घरेलू जीवन और उसकी चित्रमय पूजा-पद्धति की इस शैली के चित्रकारों ने बड़े उत्साह के साथ चित्रित किया है। इस शैली के चित्रों के मुख्य दो भाग हो सकते हैं। एक तो नित्य के सीधे-सादे घरेलू जीवन के चित्र और दूसरे धार्मिक और पौराणिक संसार के चित्र।

(१) **घरेलू जीवन**—साधारण भारतीय के घरेलू जीवन का जितना सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण इस शैली के चित्रकार की तूलिका से हुआ है उतना और किसी के द्वारा नहीं हुआ है। गाँव के बाजार, गांव के पनघट, गाँव के घरेलू काम-धंधे, गाँव के खेत-खलिहान सभी उसकी तूलिका से चित्रित होकर जीवित हो उठे हैं। अपने समय के श्रमजीवी और शिल्पकार के नित्य के जीवन का चित्रकार ने बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया है। चित्रकार स्वयं इन्हीं के बीच में रहता था अतएव अपने विषय की एक-एक बात और विवरण से उसका पूरा परिचय है। ऐसा मालूम होता है कि अपनी आँख के सामने के दृश्यों और वस्तुओं का चित्रण करता जा रहा है। जुलाहों, कुन्दीगरों, जरी के काम करने वालों, लोहारों, सोनारों सभी के जीवन को इस शैली के कलाकार ने चित्रित किया है। सभी चित्र गहरी

अनुभूति, उसके पूर्ण परिचय और सूक्ष्म निरीक्षण के सूचक हैं। इन चित्रों में से एक चित्र में एक कालीन बुनने वाले का चित्रण है। कालीन बुनने वाला झुक कर गाँठ लगा रहा है। उसके चारों ओर उसके औजार पड़े हैं और एक तरफ़ उसका जूता पड़ा हुआ है। सब वस्तुएँ अपनी-अपनी जगह पर ठीक हैं और चित्र को देखकर ऐसा मालूम होता है मानो चित्रकार इन्हीं पेशेवरों के बीच में रहता था, इन्हीं का भाई-बन्धु था। एक दूसरे चित्र में हम देखते हैं कि एक अपने लड़के को अपना पैतृक व्यवसाय सिखा रहा है। उसका छोटा भाई पास ही खड़ा है और उसकी आँखों से अपने भाई के बढ़ते हुये ज्ञान और 'हुनर' के लिए श्रद्धा के भाव छलक रहे हैं। पास ही में उसकी औरतें खड़ी हैं। एक की गोद में बच्चा है जो अपनी माँ के रुपहले करनफूलों को पकड़ने की चेष्टा कर रहा है। पूरा का पूरा दृश्य इतना स्वाभाविक है कि इन देहाती व्यवसायियों का साधारण जीवन भी सुन्दर हो उठा है।

यात्रा—यात्रा और यात्रा के विश्रामस्थल आदि का चित्रण भी राजस्थानी कलाकार का प्रिय विषय रहा है। इस प्रकार के अनेक चित्र आपको मिलेंगे जिनमें मार्ग के सराय, दोपहर को विश्राम करने के किसी स्थान आदि का चित्रण है। पहाड़ी कलम का एक चित्र है जिसमें एक बरगद के वृक्ष के नीचे कुएँ की जगत के चारों ओर थके हुए यात्रियों के विश्राम का दृश्य चित्रित है। एक स्त्री एक सिपाही को पानी पिला रही है। सिपाही की आँखों में कृतज्ञता है। पास ही में एक कुली अपना बोझ उतार कर बिछौने पर आराम से लेटा हुआ है। एक दूसरा यात्री बैठा हुआ आराम से हुक्का पी रहा है। पास ही में एक नौकर अपने स्वामी के लिए चिलम भर रहा है। स्वामी गर्व से शीशा सामने रक्खे हुए बाल बना रहा है। एक औरत उसको

पंखा झल रही है, दूसरी पैर दबा रही है। ग्राम पथ का यह दृश्य अपनी अकृत्रिमता और स्वाभाविक चित्रण के कारण बड़ा ही आनन्द-प्रद हो गया है और उसे देख कर चित्त प्रसन्न हो जाता है।

(२) धार्मिक चित्रः—ऊपर कहा जा चुका है कि राजपूत शैली वास्तव में अजन्ता के भित्ति-चित्रों की ही वंशज है। ऊपर से दोनों शैलियों की समता चाहे प्रकट न हो लेकिन सूक्ष्म विवेचन करने पर यह निश्चय हो जाता है कि इस शैली में छोटे माप पर अजन्ता की शैली ही एक बार फिर से जी उठी है। दोनों के लक्षणों में बहुत कुछ समानता है और दोनों को प्रेरणा का केन्द्र धर्म और उनकी राष्ट्रीय कला-परम्परा ही है। दोनों शैलियों की पुष्ट वाह्य रेखायें एक ही समान हैं। उनमें शैली तथा कला की बहुत कुछ समानता है। अन्तर केवल ऊपरी है, वास्तविक नहीं। परिस्थिति वश बौद्ध शैली के कलाकार को विस्तृत गुफाओं की लंबी चौड़ी दीवालें मिल गई थीं जब उसके वंशज हिन्दू कलाकार के पास केवल छोटे-छोटे मन्दिर थे जिनकी दीवालों में खुदाई के काम की अधिकता होने से सपाट समतल स्थान की कमी थी। इसलिये अपनी कला की अभिव्यक्ति के लिये उसे दूसरा माध्यम ग्रहण करना पड़ा। धर्म का रूप भी बदल गया था। बुद्ध का स्थान वैष्णव और शैव देवताओं ने ले लिया था। पूजा-विधि में भी परिवर्तन हो गया था, अतएव इस देश की कला के वाह्य तत्वों में थोड़ा बहुत परिवर्तन पाते हैं जो स्वाभाविक है। भित्ति-चित्रों का स्थान अब छोटी-छोटी तस्वीरों ने ले लिया है। इस तरह बाहरी अन्तर होते हुए भी आत्मा दोनों की एक ही बनी हुई है। वही धार्मिक प्रेरणा और वही कला-परम्परा जो अजन्ता में थी यहाँ भी विद्यमान है। अजन्ता की भाँति यह शैली भी रेखाओं की कला है। यहाँ भी रेखाओं की वही गति और वही

स्पष्टता वर्तमान है। यहाँ भी हमको वही भावुकता, कोमलता और संयम दृष्टिगोचर होता है जो अजन्ता में था और जो भारतीय जीवन के नियंत्रण और मधुर संयम का परिचायक है।

इस शैली का एक बहुत बड़ा भाग हिन्दुओं के दो विख्यात महाकाव्यों—रामायण और महाभारत-को चित्रित करने में प्रयुक्त हुआ है। ये दोनों महाकाव्य हिन्दू जीवन और हिन्दू संस्कृति के आधार और स्तम्भ हैं। अस्तु, यह स्वाभाविक है कि हिन्दू चित्रकार के अनेक चित्रों के विषय इन्हीं महाकाव्यों से लिए गये हैं। चित्रों में इन महाकाव्यों में वर्णित घटनाओं के आधार पर देवताओं, राजाओं और महापुरुषों के जीवन वृतांत अंकित किये गये हैं और चित्र की दूसरी ओर चित्र का शीर्षक और विषय लिख दिया गया है जो अधिकांश में ठीक है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् हिन्दू धर्म का जो पुनरुत्थान हुआ, उसमें विष्णु के अवतार राम और कृष्ण हिन्दू जनता की श्रद्धा के केन्द्रस्थल हो गये। तुलसीदास के पहले जनता में कृष्ण-धर्म का ही अधिक प्रचार था और इस शैली के अधिकांश चित्रों के विषय भगवान् कृष्ण की लीलाएं हैं। इन चित्रों में भी अजन्ता की परम्परा बनी हुई है। बुद्ध का स्थान अब कृष्ण ने ले लिया है। जिस प्रकार पहले बौद्ध चित्रकारों की कला में बुद्ध के जीवन-मरण और उनके पूर्व अवतारों की घटनाओं और कथाओं का चित्रण हुआ, उसी प्रकार इस शैली में कृष्ण की बाल-लीला और जीवन-मरण की असंख्य घटनाओं का चित्रण और प्रदर्शन हुआ है।

अस्तु, राजस्थानी शैली के अनेक चित्रों के विषय कृष्ण हैं। कृष्ण भगवान् होते हुये भी मानव थे। उनका जीवन साधारण हिंदू का जीवन था। यही कारण है कि भारतीय चित्रकारों की भावनाएँ

उनमें रम गईं। अतएव इस शैली के कृष्ण-सम्बन्धी चित्र बहुत ही सुन्दर और उत्कृष्ट बन पड़े हैं। (चित्र नं० १६)

पशुओं का चित्रण भी इस शैली की एक अपनी विशेषता है। श्रीकृष्ण गोपाल थे और अहीर के घर में उनका पालन-पोषण हुआ था। इसलिए इन चित्रकारों के लिये कृष्ण के साथ-साथ उनकी गाएँ भी उनकी श्रद्धा और भक्ति का विषय हो गई हैं। मुगल शैली में जो पशुओं का चित्रण हुआ है उसमें स्वाभाविकता और ऐहिकता की ही प्रधानता है। जंगली जानवरों के शिकार, हाथियों और हिरनों तथा भेड़ों की लड़ाई के दृश्यों के चित्रण में जो वस्तु सब से ऊपर उठ आई है, वह स्वाभाविकता और प्रकृति-निरीक्षण ही है। लेकिन राजस्थानी चित्रकार ने इन पशुओं को देवता बना कर चित्रित किया है। ये पशु उसके सुख-दुख के साथी हैं और बाहर से उन्हें पशु रखते हुये भी उनको वह मानवोचित गुणों—करुणा, सहानुभूति, प्रेम आदि से आभूषित कर देता है। बन्दर की आकृति बन्दर की रखते हुये भी वह उसे देवता बनाने में समर्थ हुआ है। चित्र में जहाँ कहीं भी चित्रण हुआ है वहीं वह भावना से पूर्ण है। यदि चित्र गाँव के घरेलू जीवन का है तो चित्रकार के पशु-प्रकृति-निरीक्षण का परिचय देता है। लेकिन धार्मिक चित्रों में जहाँ कहीं भी गायों के झुंडों का चित्रण हुआ है, वहीं वे चित्र के पूरे वातावरण को अपनी मूक करुणा, स्नेह और सात्विकता से खींचती हुई दिखाई पड़ती हैं। गायों के चित्रण में सर्वत्र गति और सजीवता है। उनकी पूँछों की भंगिमा में जो भाव है, उसे देख-कर अजन्ता की हस्त मुद्राओं की याद आ जाती है और उनके चित्रण में सचमुच कलाकार ने जिस सहानुभूति का परिचय दिया है वह अद्भुत है। तूलिका के तनिक संचालन मात्र से उनकी आँखों, उनकी गरदन और उनके कानों में इतना भाव आ गया है कि मूक होकर भी



चित्र नं० १६

वे अपने भाव प्रकट कर देती हैं। राजस्थानी चित्रकार के इस सहानुभूति पूर्ण चित्रण को देखकर हमें अजन्ता के हाथियों के चित्रकारों का स्मरण हो आता है।

'शिव' भी इस शैली के कुछ चित्रों के विषय हैं। वैष्णव धर्म के साथ शैव धर्म का भी उत्थान हुआ था और इसका बड़ा ही सुन्दर सामंजस्य तुलसी के 'रामचरितमानस' में हुआ है। शिव और पार्वती सम्बन्धी अनेक चित्र राजस्थानी शैली में उपलब्ध हैं। इनमें एक कांगरा शैली का शिव का सन्ध्या-गायत्री नृत्य भी है। दूसरा चित्र रामचरितमानस का पार्वती प्रश्न है।

राजस्थानी शैली के व्यक्ति-चित्र—मुगल शैली के कलाकारों की भाँति स्वभाव से ही राजस्थानी कलाकार की रुचि व्यक्ति चित्रों के अंकन की ओर नहीं थी। लेकिन अपने समय का साथ उसे भी देना पड़ा और उसके जो व्यक्ति-चित्र सुलभ हैं, वे पर्याप्त उच्चकोटि के हैं। इन व्यक्ति-चित्रों को दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं—(१) काँगड़ा शैली के व्यक्ति-चित्र और (२) जयपुर के व्यक्ति-चित्र। इन दोनों ही शैली के व्यक्ति-चित्रों में मुगल रूपकार के व्यक्ति-चित्रों जैसी सजीवता नहीं है। जयपुर-शैली के व्यक्ति-चित्र रूढ़बद्ध और आलंकारिक हैं और उनमें कठोरता है। उनकी रंग-योजना बड़ी साधारण है। इनमें से अधिकांश व्यक्ति-चित्र रूपरेखाओं में ही हैं मानो वे अधूरे ही छोड़ दिये गये हैं। इन चित्रों में सबसे अवलोकनीय वस्तु इनकी स्पष्ट रूपरेखायें हैं जिनकी रेखायें बाल की तरह सूक्ष्म हैं। काँगड़ा-शैली के व्यक्ति-चित्र इनसे भिन्न हैं। उनमें अधिक चमकीले रंगों का प्रयोग हुआ है और रूपकारों ने गोलाई तथा प्रकाश-छाया के सिद्धान्तों का व्यवहार किया है यद्यपि उन्होंने मुख्यतः उन्हीं सिद्धान्तों का पालन किया है

जिन्हें जयपुर-शैली के रूपकारों ने अपनाया है। राजाओं और सरदारों के व्यक्ति-चित्र के अतिरिक्त, जिन्हें बहुधा हुक्का पीते हुए चित्रित किया गया है, इन व्यक्ति-चित्रों के विषय साधु और फकीर भी हैं जिन्हें उनके भक्तों के बीच में उपदेश देते हुए चित्रित किया गया है।

हमें यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि अब तक हमने राजस्थानी शैली के अन्तर्गत पहाड़ी शैली के चित्रों को भी सम्मिलित किया है। पहाड़ी शैली को हमने राजस्थानी शैली की एक शाखा के रूप में ही लिया है। मुगल शैली के साथ-साथ तूलिका मिलाकर एक भारतीय शैली भी चल रही थी। इस शैली ने एक ओर जहाँ मुगल शैली को प्रभावित करके भारतीय रूप दिया, वहाँ दूसरी ओर मुगल-शैली की विशेषताओं का आत्मसात् भी किया। इसे ही हमने राजस्थानी शैली कहा है। पहाड़ी शैली को हमने इसी के अन्तर्गत ले लिया है। यद्यपि दोनों में एक ओर जहाँ बहुत कुछ समानता है, वहाँ दूसरी ओर कुछ विभिन्नता भी है। यह विभिन्नता इतनी स्पष्ट है, कि कुछ लोग इसे राजस्थानी शैली से बिलकुल ही भिन्न मानते हैं और उसके चित्रों को न मुगल-शैली के अन्तर्गत रखते हैं और न राजस्थानी शैली के।

राजस्थानी शैली का इतिहास सन् १५५० ई० से लेकर १६ वीं शताब्दी के अन्त तक फैला है। सन् १७५० ई० के आसपास इस शैली का अधःपतन शुरू हो गया। यही पहाड़ी शैली के उत्थान का समय है। १७ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी के अन्त तक यह शैली उत्तरी भारत की कुछ पहाड़ी रियासतों में पल्लवित होती रही। एक से अधिक विद्वानों की राय यह है कि इस शैली के उत्थान और वैभव का कुछ न कुछ सम्बन्ध मुगल-शैली के उत्थान और पतन से अवश्य है। औरंगजेब के अनुदार शासन-काल में जब मुगलों के दरबारी कलाकारों का सम्मान और आदर कम हुआ तो वे दरबार छोड़-

छोड़ कर इधर-उधर चले गये। सम्भव है कि इन्हीं में से कुछ कलाकार इन पहाड़ी रियासतों में भी जा बसे, ठीक उसी प्रकार जैसे पहले राजपूताना की जयपुर आदि अन्य रियासतों को छोड़कर ये मुगलों के दरबार में आ बसे थे। चित्रकार कांगड़ा, जम्मू, बसौली, चंब, टेहरी, गढ़वाल, गुलेर आदि पहाड़ी रियासतों में पहुँच गये और उनका सहयोग पाकर पहाड़ी शैली अपने उत्कर्ष को पहुँच गई। इनमें अधिकांश चित्रकार हिन्दू थे और उनकी परम्परा मूल में राजस्थानी ही थी। फिर भी यह सोचना कि उन्होंने इन रियासतों में आकर एक नई शैली की नींव डाली अथवा 'इन्हीं के हाथों १८ वीं सदी की पहाड़ी शैली का जन्म हुआ' यह मत भ्रामक है। पहाड़ी शैली तो अपनी जगह पर थी ही। उत्थान के साथ उसमें भी नवजीवन के चिन्ह आए! यह वास्तव में राजस्थानी शैली की परम्परा में ही आती है। काँगड़ा की शैली में ऊपरी वर्णित काश्मीर शैली का बड़ा प्रभाव है। इसके भावों की अभिव्यक्ति, मुद्रा, वस्त्र-मुकुट आदि का आलेखन काश्मीर शैली के ढंग का है। उनकी रंग-योजना मुगल-शैली की है। पहाड़ी शैली के जितने भी चित्र मिलते हैं, सभी १७ वीं शताब्दी या उसके बाद के हैं। इसलिये लोग शीघ्र ही उसका सम्बन्ध मुगल शैली से जोड़ लेते हैं।

पहाड़ी शैली और राजस्थानी शैली में अन्तर भी पर्याप्त है—राजस्थानी शैली मुख्यतः आलंकारिक है जब पहाड़ी भावप्रधान है। रसों और भावों का बड़ा ही सफल चित्रण यहाँ के कलाकारों ने किया है। उनकी रेखायें भावानुवर्तिनी होकर कठोर से कोमल होती गई हैं और उनकी रेखाओं में जीवन प्रवाह, गति और स्पन्दन है। पहाड़ी चित्रकारों का विषय-क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। रामायण, महाभारत और पुराणों के चित्रण के अतिरिक्त इतिहास और लोककथा भी इस शैली के विषय रहे हैं। ऊपर कहा

जा चुका है कि भारतीय किसानों के नित्य के जीवन का बड़ा ही सुन्दर और सहानुभूतिपूर्ण चित्रण इन चित्रकारों ने किया है। राजस्थानी शैली के अन्तर्गत जो उदाहरण दिये गए हैं उनमें से अधिकांश पहाड़ी शैली के हैं। इतना ही नहीं इन चित्रकारों ने हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं से प्रेरणा पाकर नायक-नायिकाओं के इतने सफल चित्र बनाए हैं कि आश्चर्य होता है। राजस्थानी चित्रकारों की भाँति 'रागमालाओं' का चित्रण भी इन्होंने किया है और इस प्रकार साहित्य और संगीत से एक अटूट सम्बन्ध बनाए रक्खा है जो भारतीय चित्रकला की विशेषता है।

बसौली, चम्बा और कांगड़ा इस शैली के प्रधान केन्द्र रहे हैं। इन सभी में बहुत कुछ समानताएँ हैं।

आधुनिक युग

यद्यपि राजस्थानी, पहाड़ी और मुगल शैलियों की परम्परा कुछ कलाकारों के वंशजों में ज्यों-त्यों करके चलती रही फिर भी सत्रहवीं शताब्दी के अन्त होते-होते मुगल-शैली और अठारहवीं शताब्दी के अन्त होते-होते राजस्थानी और पहाड़ी शैलियों का पूर्ण अधःपतन हो गया। दिल्ली और लखनऊ में कुछ चित्रकार अपना काम करते रहे। उनका काम मुख्यतः मुगल-सम्राटों के व्यक्ति-चित्रों का अनुकरण करना रह गया जो कोरी नकल है और जिसमें कला नाम मात्र को भी नहीं है। इनकी शैली अब भी मुगल है लेकिन चित्र निर्जीव हैं। इसी समय कुछ वंशज चित्रकार पटना में भी आकर बस गये और अपना काम करते रहे। उन पर यूरोप का प्रभाव पड़ा और इस प्रकार एक नई विकृत शैली की नीव पड़ी जिसे हम पटना शैली कहते हैं। इसमें कठोरता है और भावना का अभाव है। इसमें व्यक्ति-चित्र की अधिकता है। राजस्थानी शैली भी अपने इस अधःपतन के युग में पंजाब के कुछ पहाड़ी रियासतों में साँस लेती रही और लाहौर और अमृतसर उसके केन्द्र रहे। १९ वीं शताब्दी के अन्त तक यह पश्चिम के प्रभाव में आ गई और इस प्रभाव को हम इस काल के चित्रों में देख सकते हैं।

राजस्थानी, पहाड़ी और मुगल शैलियाँ इस प्रकार अपने गिरे और बिगड़े हुए रूप में देश में चल रही थीं कि बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े प्रान्तों की राजधानियों में चित्रकला की शिक्षा देने के लिये स्कूल खुले। इन कुछ स्कूलों और कालेजों में पश्चिमी चित्रकला के सिद्धान्तों के आधार पर भारतवासियों को चित्रकला की शिक्षा

देने का कार्य प्रारम्भ हुआ। इन कालेजों के प्रवर्तकों ने इस निश्वास पर ही अपना काम प्रारम्भ किया था कि भारतीय-चित्रकला निम्नश्रेणी की है और भारतवासियों को अपने अतीत से कुछ भी सीखना नहीं है—उसमें कुछ सीखने योग्य है ही नहीं। इसका फल यह हुआ कि इन कालेजों के विद्यार्थी और शिक्षक इसी विचार के थे कि पाश्चात्य कला के सिद्धान्त ही ठीक हैं और पूर्व की कला कला ही नहीं है। त्रावन्कोर के राजा रविवर्मा भी इसी विचारधारा के थे। इन्होंने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये पाश्चात्य चित्रकला का सहारा लिया। भारतीय कला की विशेषताओं को, भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति की शैलियों को तथा प्रणालियों को अपने चित्र से दूर रखा। भारतीय कथाओं का चित्रांकन इन्होंने पाश्चात्य चित्रकला के सिद्धान्तों पर किया। परन्तु पाश्चात्य कला की आत्मा को पहिचानने में ये असफल रहे जिसके कारण इनके चित्र निर्जीव ही रह गये। विषय इनके पौराणिक ही थे परन्तु चित्रण में वह भव्यता नहीं जो इतने गंभीर विषयों के चित्रण में आपेक्षित है। लेकिन इन्हीं व्यक्तियों में एक सज्जन ऐसे भी थे जो अपने साथियों से सहमत नहीं हुए। उन्होंने सर्वप्रथम भारतीय चित्रकला को ठीक दृष्टिकोण से देखा और अपने साथी शिक्षकों की हाँ में हाँ न मिलाई। अपने विद्यार्थियों को उन्होंने सलाह दी कि वे अजन्ता, राजस्थानी और मुगल शैलियों के चित्रों का अध्ययन करें और उनसे प्रेरणा ग्रहण करें। इन सज्जन का नाम श्री० ई० पी० हेवेल था। इन्होंने स्वयं भारतीय चित्रकला का बड़ा गम्भीर और सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया और इस विषय पर बहुत कुछ लिखा लिखाया। इनके प्रयत्न से भारतीय चित्रकला के सिद्धान्तों से पश्चिम के कला-विशारद भी परिचित हुए और उन्होंने भारतीय चित्रकला का आदर करना सीखा। पश्चिम की हाँ में हाँ मिलाने वाले भारतवासियों ने इन्हीं के प्रयत्न से यह स्वीकार किया

कि भारत की चित्रकला भी इस योग्य है कि उसे सभ्य देशों की चित्रकला के मध्य स्थान दिया जाय और उसे कला कहा जाय। यही कारण है कि कुछ लोग इनको भारतीय चित्रकला की नवीन जागृति का पिता कहते हैं।

लेकिन इस नवीन जागृति को कार्यरूप में परिणत करने का नया कार्य स्वनामधन्य श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके शिष्यों और साथियों ने किया। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने बौद्ध चित्रकला की अनेक विशेषताओं को, पाश्चात्य कलाकारों के अंकन तथा रंगों के सम्मिश्रण को तथा मुगलकालीन लघु चित्रों के सिद्धान्तों को अपनाया। परन्तु उनकी कला में विविध प्रणालियों के तत्व पूर्णरूप से घुलमिल गये हैं और उनकी चित्रकला की आत्मा भारतीय ही है। ठाकुर महोदय की प्रतिभा और लगन के कारण थोड़े ही दिनों में यह आन्दोलन देशव्यापी हो गया और फलतः एक बार फिर हम अपने को एक ऐसे काल में पाते हैं जिसमें भारतीय चित्रकला फिर से बल संचय करने का प्रयत्न करती दिखाई पड़ती है। इस नवीन आन्दोलन ने मुख्यतः अतीत से प्रेरणा ग्रहण करने की चेष्टा की है। चीन, जापान और ईरान का प्रभाव भी इस पर पड़ा है।

बंगाल स्कूल के चित्रकारों के चित्रों में जो साधारणतः छोटे ही हैं, पर्याप्त सौन्दर्य और कोमलता है। रेखाओं में प्रवाह है और अलंकार की पुष्ट भावना है। उन्होंने अजन्ता की प्राचीन रेखाओं की आत्मा को पकड़ने की चेष्टा की है और उन्हें इसमें सफलता भी मिली है। लेकिन अजन्ता के भित्ति-चित्रों जैसी ठोस गढ़न इनमें नहीं है। इनकी रंग योजना कोमल और सामंजस्यपूर्ण है। कहीं-कहीं इनमें अतिरंजित कोमलता भी आ गई है। चित्रों में शक्ति की कमी है और चित्रकारों ने डिजाइन के महत्व को नहीं समझा है। जो कुछ भी हो इस आन्दोलन को हमें बहुत ही आदर की दृष्टि से देखना

चाहिए क्योंकि इसके कारण एक बार फिर से भारत की कला को संसार में उचित सम्मान प्राप्त हुआ है। इस आन्दोलन का महत्व इसलिये और भी अधिक है कि इसी ने भारतीय विद्यार्थियों को गलत राह से हटा कर इस बात की घोषणा की कि रवि वर्मा और उनके अनुयायियों के दोगले चित्रों का कुछ भी मूल्य नहीं है।

बंगाल के इस नव-आन्दोलन ने अवनीन्द्र ठाकुर के अतिरिक्त और भी कितने ही प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों को उत्साहित, प्रेरित और आकर्षित किया है। इनमें सर्वश्री गगनेन्द्रनाथ ठाकुर, वेंकटप्पा, यामिनी राय और नन्दलाल बोस को अधिक ख्याति प्राप्त हुई है। श्री नन्दलाल बोस आधुनिक युग के सबसे अधिक प्रतिभाशाली और सफल कलाकार हैं—उनके चित्रों में एक बार फिर से अजन्ता की आत्मा बोल उठी है। उनकी रेखाओं में अजन्ता की रेखाओं का सौन्दर्य, कोमलता और शक्ति बहुत कुछ आ सकी है। शिवाजी की कथायें इनके चित्रण का प्रिय विषय है। इन्होंने शिवाजी का एक चित्रण अलौकिक पुरुष के रूप में, सत्य के प्रतीक के रूप में, प्रकृति की प्रलयकारी शक्ति के रूप में, एक ध्यानावस्थित योगी के रूप में तथा शान्ति एवं सदिच्छा के आधार के रूप में किया है। नन्दलाल बोस साधु-सात्विक प्रकृति के पुरुष हैं। विश्व भर से उन्हें सहानुभूति है। उनकी कल्पना उन्नत और महान् है और उनके चित्रों में शक्ति, प्राण और भाव है। श्री वेंकटप्पा के चित्रों में राजस्थानी और मुगल शैलियों के वैभव की झलक है। स्वर्गीय गगनेन्द्रनाथ ठाकुर के चित्र उच्चकोटि के हैं। उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। उनके कुछ व्यंग्य चित्र भी हैं जिनमें उच्चकोटि के करुण मिश्रित व्यंग्य का अपूर्व चित्रण हुआ है। छाया और प्रकाश के सुन्दर मेल से इन्होंने चित्रांकन किया है जो स्वतंत्र एवं मूल रूप से भारतीय है। यामिनी राय ने प्राचीन पद्धतियों को अपनाया है तथा

इनके चित्रों में आलंकारिकता तथा आकर्षण भी है परन्तु इनके चित्र से हमें कोई नवीन संदेश नहीं मिलता। सुनयना देवी के चित्रों में गंभीर भावनाओं तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों का समावेश है। चित्रकार देव चटर्जी ने मनुष्य का चित्रण भारतीय पद्धति के अनुसार किया है परन्तु उसमें उनकी मौलिकता के समावेश से नवीनता आ गई है। रेखाओं द्वारा आकृतियों के संकेत की विशेषता इन्होंने चीन की चित्रकला से ली है। रमेन्द्र चक्रवर्ती ने पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपनाया है पर इनके चित्रण सफल हैं।

अवनीन्द्रनाथ टाकुर के इस स्कूल ने स्पष्टतः एक काम कर लिया है। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि पश्चिम के प्रभाव में अपनी परम्परा को भूल जाने से भारतीय चित्रकला का हित-साधन सम्भव नहीं है। पश्चिम का भूत जो हमारे ऊपर सवार हो रहा था, वह अब बहुत कुछ उतर गया है। अजन्ता इत्यादि से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी इस स्कूल ने कोरी नकल नहीं की है और न उसने इन सभी के मिश्रण से एक खिचड़ी तैयार करने की ही चेष्टा की है। इस स्कूल के चित्रकारों में प्रतिभा और मौलिकता की कमी नहीं है और ऊपर जिन चित्रकारों का उल्लेख हुआ है, उनकी कला उच्चकोटि की है। अवनीन्द्र बाबू में सभी शैलियों से प्रेरणा पाकर सबको अपना बना लेने की एक अद्भुत क्षमता है। उनके चित्रों में जापानी, चीन, ईरानी सभी कुछ भारतीय हो उठा है। भारतीय परम्परा और भारतीय शैली का अनुसरण करते हुये अपनी कल्पना को तूलिका द्वारा साकार करने में इस स्कूल के कलाकार बहुत कुछ सफल हुये हैं। इन चित्रकारों का विषय भी बहुत विस्तृत है। रामायण, महाभारत, कालिदास के नाटक और संस्कृत की अन्य साहित्यिक रचनायें, पुराण और भारत का प्राचीन इतिहास, इन सभी से चित्रकारों ने अपने लिये स्वतन्त्र रूप से विषय-चयन किया है।

बंगाल स्कूल के इस आन्दोलन से देश के अन्य भागों में भी जागृति फैली है। गुजरात में श्री रविशंकर रावल के चारों ओर कुछ कलाकार एकत्र हो गये। इन्होंने गुजरात की प्राचीन चित्रकला की परम्परा को फिर से जागृत करने की चेष्टा की है।

बम्बई के आर्ट स्कूल के विद्यार्थियों ने भित्तिचित्रों में विशेष योग्यता प्राप्त करने की चेष्टा की। लेकिन उनकी शैली में अतिरंजना है। अजन्ता के सिद्धान्तों को वे भली भाँति नहीं समझ पाए हैं। शैली और भाव में भारतीयता की कमी है क्योंकि उनकी शिक्षा प्रणाली बराबर पाश्चात्य ही रही है। बम्बई राजभवन में उनके बनाये हुये चित्र बोझिल एवं यत्नसाध्य हैं। भावनाओं की अभिव्यक्ति में कोई नवीनता नहीं है और प्रवाह भी नहीं है। इसके विपरीत अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुयायियों—सुधांशु राय, रनदा उकील तथा एल० एम० सेन के द्वारा लंदन के इंडिया हाउस में बनाये गये चित्रों में नवीनता है यद्यपि विषय प्राचीन ही है। रहमान द्वारा बनाये हुये दिल्ली विधान भवन के चित्र भी सुन्दर हैं।

इन सामूहिक प्रयत्नों के अतिरिक्त इस जागृति के युग में कुछ फुटकर प्रयत्न भी हुए हैं—श्री चगताई की गणना हम ऐसे ही चित्रकारों में करेंगे। इनके चित्रों में हम ईरानी शैली की एक नवीन भारतीय अभिव्यक्ति पाते हैं।

यह सब तो हुआ और हो रहा है लेकिन कुछ दिनों से ऐसा मालूम होता है कि बंगाल का यह आन्दोलन अब अपनी उपयोगिता समाप्त कर चुका है। जो एक दिन शक्ति से पूर्ण था आज उसमें कमजोरियाँ आ गई हैं और कृष्ण और गोपियों के भावहीन तथा निरर्थक चित्र बनाने में ही उसकी शक्ति का अपव्यय हो रहा है। यही कारण है कि शैली की अतिरंजित कोमलता और ऊपरी चमक-दमक

से दूर रह कर अनेक चित्रकारों ने स्वयं अपने लिये सोचना शुरू कर दिया है।

बम्बई कला केन्द्र के कुछ चित्रकारों ने पाश्चात्य यथार्थवादी शैली को अपनाया है। इनमें एन० एस बेन्द्रे, डी० बी जोग, वी० ए० माली, चिंचालकर एवं हेब्बर विशेष उल्लेखनीय हैं। हेब्बर ने भारतीय एवं पाश्चात्य शैली में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

अनेक ऐसे कलाकार भी हैं जिन्होंने पाश्चात्य चित्रकला की शैलियों को पूर्ण रूप से अपनाया है तथा पेरिस स्कूल से प्रभावित हैं। लंका निवासी जॉर्ज कीट एवं बङ्गाल की शीला ओडेन इसी श्रेणी के कलाकार हैं। जॉर्ज कीट पिकासो से प्रभावित हैं परन्तु उनकी कला में कोमलता है। उन्होंने कृष्ण और गोपियाँ, राग रागनियाँ, नायिकाएँ आदि प्राचीन विषयों को नयी शैली से चित्रित किया है। शीला ओडेन ने पौराणिक कथाओं के चित्रों को ऐसा रूप दिया है जो बालकों के द्वारा बुद्धिग्राह्य है। शैलज मुखर्जी ने भी फ्रान्सीसी शैली द्वारा भारतीय विषयों का चित्रण किया है। उनके चित्रों में स्वाभाविकता एवं सजीवता विशेष रूप से मिलती है। इनमें अमृत शेरगिल नाम की सिक्ख महिला भी हैं। इनकी कला में घनत्व तथा दूरी के महत्व पर जोर दिया गया है (देखो चित्र नं० २०)। उनके चित्रों में अजन्ता के भित्तिचित्रों की गढ़नशीलता, चित्रों को सरल बनाने आदि की विशेषताओं का पालन किया गया है। उनकी तूलिका की शक्ति से स्पष्टतः मालूम होता है कि उनके चित्रों में भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला के सिद्धांतों का स्वाभाविक विकास हुआ है। सादगी, रंगों की नियोजना, समुचित संतुलन, सौहार्द एवं मानवीयता इनकी अपनी विशेषतायें हैं।

पाश्चात्य शैली को पूर्ण रूप से अपनाने वाले कलकत्ता ग्रुप के कलाकार सुभो टैगौर, रथीन मैत्र, गोपाल घोष, प्राण कृष्ण पाल,



अमृत शेरगिल की कला

प्रबोध दासगुप्त आदि हैं। इनके चित्र शैली तथा विषय के दृष्टिकोण से भारतीय परम्परा से अछूते ही हैं।

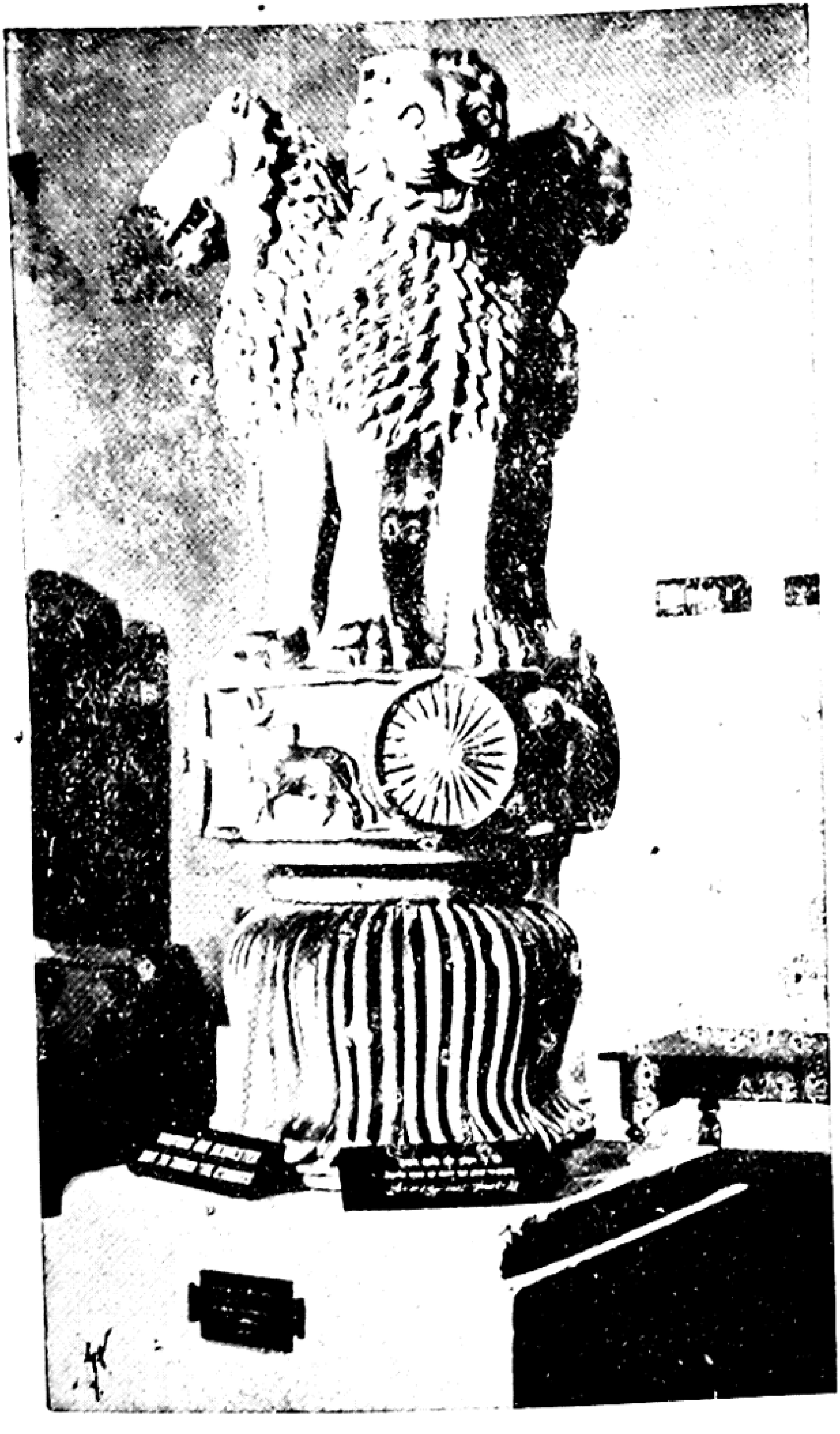
अर्वाचीन कलाकारों में गोपाल घोष, शिवैक्स शैवदा, एन० एस० बेंद्रे, के० सी० पनिकर, वीरेन दे, एम० एफ० हुसैन, रामकिंकर, प्रदोष दासगुप्त, और धनराज भगत अधिक प्रतिभाशाली चित्रकार हैं। इनमें प्रवाह है, सजीवता है, गम्भीरता है तथा वैयक्तिक कल्पना है। प्राचीनता-वादी कलाकारों में पी० एल० नृसिंह मूर्ति और के० श्रीनिवासुलु उल्लेखनीय हैं। इन्होंने कुछ बड़े सुन्दर एवं सजीव चित्र प्रस्तुत किये हैं।

चित्रकला के क्षेत्र में सारे देश में अनेक प्रयोग हो रहे हैं। नये-नये मार्गों के खोज में कलाकार व्यस्त हैं। पाश्चात्य चित्रकला का और विशेषकर पेरिस स्कूल का भारत के कलाकारों पर प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। व्यक्ति रुचि के अनुसार कलाकार पूर्वी एवं पश्चिमी शैलियों को मिलाकर के अपने अपने मार्गों का निर्धारण कर रहे हैं। आधार रूप में पूर्व और पश्चिम की परम्परा पृथक् पृथक् हैं फिर भी शैली की दृष्टि से दोनों में विशेष भेद नहीं रह गया है। इन सब बातों पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि आधुनिक भारतीय चित्र-कला का भविष्य उज्ज्वल है।

भारतीय मूर्ति-कला

बीते युग की स्मृति सुरक्षित रखना मानव का सरल स्वभाव है। फिर वर्तमान को स्पष्ट रूप से समझने के लिये अतीत का संरक्षण आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य भी है। अतीत की नींव पर ही वर्तमान के भवन का निर्माण किया जा सकता है। यही कारण है कि मनुष्य-जाति चिरकाल से ही अतीत के संरक्षण में दत्तचित्त दिखाई देती चली आ रही है। अव्यक्त को व्यक्त करना अर्थात् अमूर्त को मूर्त रूप देना भी मानव-प्रकृति का एक मुख्य अंग रहा है। धार्मिक प्रकृति वाले व्यक्तियों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है। ये लोग इस सम्पूर्ण सृष्टि के संचालन में एक ऐसी सत्ता का अनुभव करते हैं जो इन्द्रियगम्य नहीं है अर्थात् जो अव्यक्त एवं अगोचर है। जो अव्यक्त और अगोचर है उसे समझना साधारण व्यक्तियों का काम नहीं। अव्यक्त और अगोचर सत्ता की बात तो दूर की है, यह व्यक्त जगत ही इतना विशाल एवं विस्तृत है कि इसको भी हृदयङ्गम करना हमें बुद्धि तथा हृदय के परे प्रतीत होता है।

उपर्युक्त दोनों मुख्य प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए अब यह प्रश्न उठता है कि वे कौन-कौन से उपाय हैं जिनके द्वारा मानव समाज अपनी इन प्रवृत्तियों को व्यक्त करता चला आ रहा है? संक्षेप में हम यहाँ यह कह सकते हैं कि वास्तु कला (भवननिर्माण-कला), मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला एवं साहित्य आदि के माध्यम से मानव-समाज अपनी इन सहज स्वाभाविक प्रवृत्तियों को व्यक्त करता चला आ रहा है। इस अध्याय में हमें वास्तु, चित्र, संगीत एवं साहित्य आदि कलाओं के विषय में कुछ नहीं कहना है। यहाँ तो हम केवल



चित्र नं० २१

मूर्ति-कला को ही अपना आधार मान कर चलेंगे और उसी के क्रम-बद्ध इतिहास का दिग्दर्शन कराते हुए उसकी आलोचना एवं उसकी भिन्न-भिन्न कालीन शैलियों की विशेषताओं का विवेचन करेंगे।



चित्र नं० २२

मूर्ति-कला के विवेचन को स्पष्ट रूप से समझने के लिये हम उसके इतिहास को निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

१—प्रागैतिहासिक काल
२—वैदिक काल
३—शैशुनाक तथा नन्द काल
४—मौर्य काल
५—शुङ्ग काल
६—कुषाण सालिवाहन काल
७—गुप्त काल
८—पूर्वमध्य काल
९—उत्तरमध्य काल
१०—मूर्तिकला का ह्रास काल

अब हम प्रत्येक काल की मूर्ति-कला का संक्षिप्त विवेचन करेंगे :—

(१) प्रागैतिहासिक काल—मानव-सभ्यता के विकास के प्रारम्भ में ही मनुष्यों में मूर्ति-निर्माण की चेतना उत्पन्न हो गई थी। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व की निर्मित मूर्तियों के हमें मुख्यतया तीन उदाहरण मिलते हैं—(क) हाथी के दाँत पर खुदा हुआ तत्कालीन हाथी का

एक चित्र, (ख) घोड़े की प्रतिमा और (ग) अस्थि पर बनाई हुई टट्टू की आकृति। इन्हीं प्रारम्भिक आकृतियों को हम मूर्ति-कला की जन्मदात्री कह सकते हैं। ज्यों-ज्यों मानव-सभ्यता का विकास होता गया त्यों-त्यों हाँथी-दात, अस्थि, ताँबे और काँसे इत्यादि की बनी हुई मूर्तियाँ भी दृष्टिगोचर होने लगीं। जिन जातियों का सांस्कृतिक विकास अन्य जातियों की अपेक्षा कम था, वे जातियाँ मनुष्य की आकृति का भान कराने वाली ताँवे की पीटी हुई मोटी चादर की आकृतियों का निर्माण करती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् ये आकृतियाँ पूजा के लिये बनाई जाती थीं।

जैसा प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है, मूर्ति-निर्माण में मनुष्य के दो मुख्य उद्देश्य रहे हैं। एक तो अतीत का संरक्षण और दूसरा अव्यक्त को व्यक्त करना अथवा अमूर्त को मूर्त रूप देना। यदि हम विश्व की सब काल की मूर्ति-निर्माण कला पर ध्यान दें तो हमें यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि उनके निर्माण के मूल में ये ही दो प्रेरणाएँ मुख्य रूप से कार्य करती रही हैं। हमने ऊपर जिन मूर्तियों की ओर संकेत किया है उनमें भी इन्हीं भावनाओं का बीज मिलता है। हाथी, घोड़े और टट्टू आदि की आकृतियाँ बनाकर मनुष्य ने अपने अतीत के संरक्षण की भावना को सन्तुष्ट किया है और ताँबे, काँसे इत्यादि की बनी हुई मानव-आकृतियों का भान कराने वाली मूर्तियों-द्वारा उसने अमूर्त को मूर्त रूप देने की अपनी दूसरी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। मूर्ति-कला में ऐतिहासिक मूर्तियों को हम पहली श्रेणी के अंतर्गत और धार्मिक तथा कलात्मक मूर्तियों को दूसरी श्रेणी के अंतर्गत रख सकते हैं। भारत की मूर्तियों का निर्माण अधिकतर धार्मिक उद्देश्य को ही ध्यान में रखकर हुआ है। उनमें ऐहिक रूप की आभा न दिखाकर कलाकारों ने अपने आराध्य देवों के दिव्य स्वरूप का ही अंकन विशेष रूप से किया है। कारण यह है कि भारत

के निवासी अधिकांश में मूर्ति-पूजक ही थे और हैं। अतः उन्होंने अपनी मूर्तियों में भी सांसारिक सौन्दर्य की छटा न दिखाकर स्वर्गीय ज्योति का ही विशेष प्रदर्शन किया है। यह बात आगे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी।

आधुनिक काल में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई है वह भारतीय इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। भारत की मूर्ति-कला के अध्ययन में भी हमें उससे पर्याप्त सहायता मिलती है। उससे हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय के लोग मिट्टी, पत्थर तथा ताँबे की मूर्तियाँ बनाना जानते थे। इन मूर्तियों के ऊपर कुछ "टिकरे" भी मिले हैं जिन पर बैल, हाथी, बाघ, गैंड़े तथा पीपल के पत्तों की भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ मिलती हैं (चित्र-नं० २)। इन मूर्तियों में दो मूर्तियाँ तो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक तो पद्मासन लगाए एक साधक की मूर्ति है जिसमें बुद्ध की मूर्ति की कुछ समानता पाई जाती है। दूसरा एक ऐसा मूर्ति-खंड है जिसकी दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर लगी हुई है। इन मूर्तियों को देखने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय के निवासियों को योग-साधन का भी ज्ञान था। इससे यह भी अनुमान किया जाता है कि वैदिक काल में हमें आर्य-धर्म में जो योग-साधन के तत्व मिलते हैं, वे भी सम्भवतः इन्हीं जातियों से सम्बन्ध रखते हैं।

(२) वैदिक काल—वैदिक काल में आर्य विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना किया करते थे। इस उपासना के मुख्यतया दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि आर्य इन देवताओं को प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का साकार रूप समझते थे, अथवा दूसरे वीर-पूजा की भावना से प्रेरित होकर उनकी उपासना किया करते थे। इनमें मुख्य-मुख्य देवता ये हैं—अग्नि, इन्द्र, सविता, मित्र, वरुण,

विष्णु, रुद्र और यम इत्यादि। अब प्रश्न यह है कि इन देवताओं की मूर्तियाँ उस काल में बनती थीं अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में डाक्टर कुमारस्वामी का मत तो यह है कि इनकी मूर्तियाँ उस काल में नहीं थीं। किन्तु वेदों में हमें कुछ ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनसे मूर्तियों का उस समय में बनना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वान् मैकडोनल ने भी इसी मत का समर्थन किया है। एक अन्य भारतीय विद्वान् ने भी वेदों के प्रमाणों से उस काल में मूर्तियों का बनना सिद्ध कर दिया है। ऋग् वेद में हमें एक स्थान पर ऐसा वर्णन मिलता है—"कौन मेरे इन्द्र को मोल लेगा?" इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि उस मंत्रकार ने उपासना के लिये इन्द्र की मूर्ति अवश्य बनाई होगी जिसकी वह पूजा भी करता होगा। देवमूर्तियों के अतिरिक्त कुछ देवियों की मूर्तियाँ भी हैं, जैसे—अदिति, पृथिवी, श्री और अम्बिका आदि की मूर्तियाँ। किन्तु इन सभी मूर्तियों में अभी तक ऐसी कोई मूर्ति उपलब्ध नहीं हुई है जिसे हम निश्चित रूप से उसी काल की कह सकें। बहुत सम्भव है कि कुछ स्थानों पर उचित गहराई तक खुदाई होने पर ये मिल जायँ।

(३) शैशुनाक तथा नन्दकाल—वैदिक काल के उपरान्त अब हम एक ऐसे काल में पदार्पण करते हैं जहाँ से हमें भारत का क्रम-बद्ध इतिहास प्राप्त होता है। इस काल का नाम 'शैशुनाक तथा नन्दकाल' है। इसमें हमें बहुत सी प्राचीन मूर्तियाँ मिलती हैं जो शैशुनाक वंश के कई राजाओं की हैं। इनमें सबसे प्राचीन अजातशत्रु की मूर्ति है जो महात्मा बुद्ध का समकालीन था और ५५२ ई० पू० में राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ था। यह मूर्ति मथुरा के परखम नामक गाँव में प्राप्त हुई थी और इस समय मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित है। अजातशत्रु ५२५ ई० पू० में देवलोक सिधार गये थे। अतः

यह मूर्ति उसी वर्ष की अथवा उससे एकाध वर्ष इधर की होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त दो अन्य मूर्तियाँ भी हैं जो पटने के पास मिली थीं और इस समय कलकत्ता के संग्रहालय में रखी हुई हैं। ये अजातशत्रु के पिता अजउदयी तथा उसके बेटे नन्दिवर्धन की हैं। इन तीनों मूर्तियों की शैलियाँ प्रायः एक-सी ही हैं। उनमें वास्तविकता का पुट पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। अतएव उनमें अतीत के संरक्षण की आदि-मानव-प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। इसी शैली से सम्बन्धित इस युग की तीन और मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनमें दो स्त्रियों की और एक पुरुष की है। ये सभी मूर्तियाँ साधारण आदमी की ऊँचाई से अधिक ऊँची हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि ये मूर्तियाँ यक्षों की हैं, किन्तु इस मत की पुष्टि के लिये यथेष्ट प्रमाण नहीं मिलते। ये सर्वथा मानव-मूर्तियाँ हैं। नन्दिवर्धन कलिंग पर विजय प्राप्त करके वहाँ से बहुत सी जैन मूर्तियाँ भी अपने साथ ले आया था। इससे यह प्रमाणित होता है कि पाँचवीं शताब्दी में भी जैन मूर्तियों का निर्माण होता था।

(४) **मौर्य काल**—नन्द वंश के उपरान्त भारत में चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से मौर्य राज्य की स्थापना की। अशोक इस वंश का सबसे अधिक प्रभावशाली राजा हुआ। उसके समय में भारतीय कला बहुत उच्चकोटि पर पहुँच गई थी। यह बात इस समय के शिला-स्तम्भों को देखकर प्रमाणित हो जाती है। इन शिला-स्तम्भों में बड़ी ही उच्चकोटि की कला के दर्शन होते हैं। अतएव ये शिला-स्तम्भ ही तत्कालीन मूर्ति कला के सार माने जाते हैं। ये भारत की ही नहीं, वरन् विश्व की उत्कृष्ट मूर्तिकला में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। अब तक ऐसे लगभग सत्रह शिला-स्तम्भों का पता लगा है। इनमें से अधिकांश शिला-स्तम्भ उत्तर-प्रदेश तथा बिहार में ही पाये गये हैं।

अब हम इन शिला-स्तम्भों की बनावट आदि पर विचार करेंगे। ये सभी स्तम्भ चुनार के पत्थर के हैं तथा केवल दो भागों में बने हैं। इन दोनों भागों पर ऐसा "ओप" किया गया है कि दर्शकों की आँखें तक उन पर नहीं ठहरतीं। यह "ओप" भारत की प्रस्तर-कला की एक अनुपम विशेषता है। इन स्तम्भों के लाठ गोल और नीचे से सिर तक चढ़ाव-उतारदार हैं। इन लाठों के ऊपर के "परगहे" अशोक और उसके पूर्व की मूर्ति-कला के बड़े ही सुन्दर नमूने हैं। इनमें सारनाथ वाला "परगहा" सर्वश्रेष्ठ है। इसके सिरे पर जो चार सिंह बैठाये गए हैं, वे बिलकुल सजीव प्रतीत होते हैं। उनकी आकृति अत्यन्त हो सुन्दर एवं दर्शनीय है। उसमें कल्पना और यथार्थता का बड़ा ही सुन्दर सामञ्जस्य है। मूर्तिकार कोरी कल्पना के पंखों पर बैठकर आकाश में ही नहीं विचरण कर रहा है, प्रत्युत् उसका सम्बन्ध इस पृथ्वी से भी दिखाई पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों उसने अपना सारा कला-कौशल इन्हीं मूर्तियों के निर्माण में लगा दिया है। यही कारण है कि स्मिथ जैसे आलोचक को भी स्वीकार करना पड़ा है कि ये आकृतियाँ संसार की पशु-मूर्तियों में सर्वोत्कृष्ट हैं (चित्र नं० २१)।

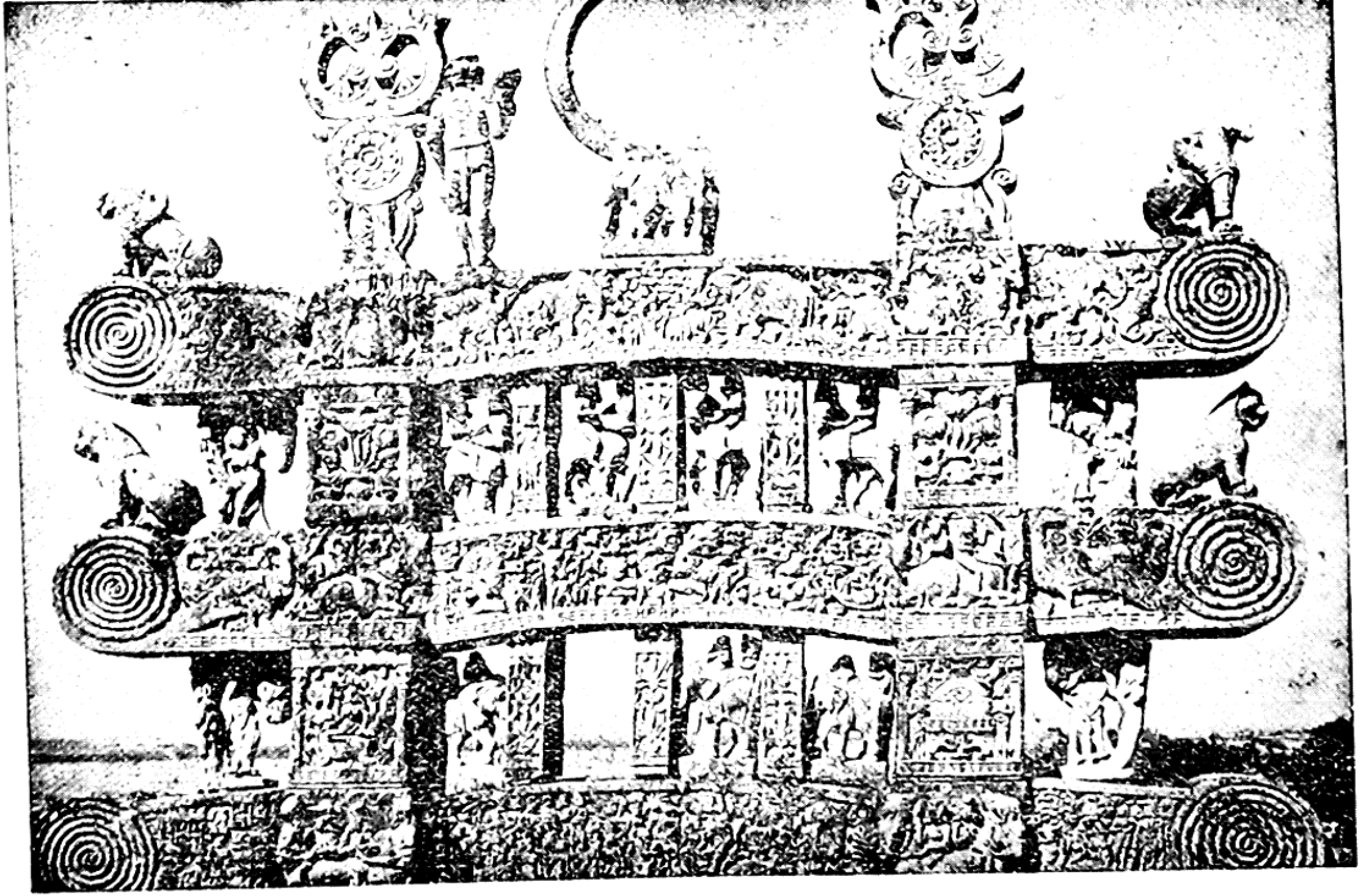
ऊपर लिखित मूर्तियों के अतिरिक्त मौर्य काल की कुछ अन्य मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। पाटलिपुत्र के समीप दीदारगंज में चामर-ग्राहिणी की ओपदार मूर्ति मूर्ति-कला का अत्युत्कृष्ट उदाहरण है (चित्र नं० २२)। पाटलिपुत्र में अभी हाल में ही कुछ जैन तीर्थंकरों की भी मूर्तियाँ मिली हैं जो अशोक के पौत्र सम्प्रति के राज्य-काल की निर्मित जान पड़ती हैं। इन मूर्तियों पर भी "ओप" है। इन सब में हमें उत्कृष्ट कला के दर्शन होते हैं।

अब हम मौर्य काल की मूर्ति-कला की कुछ विशेपताओं पर विचार करेंगे। शैशुनाक मूर्तियाँ, अशोक कालीन स्तम्भ, चामरग्राहिणी

की मूर्ति तथा सम्प्रति कालीन जैन मूर्तियाँ—सभी चुनार के पत्थर की बनी हुई हैं। अतएव सम्भव है कि प्रस्तर कला का उत्कर्ष चुनार से ही हुआ हो। जिन अशोकीय स्तम्भों का वर्णन हमने ऊपर किया है, उनमें सम्भवतः कुछ अशोक से पहले के भी हैं। अशोकीय स्तम्भों के "परगहों", उसके सभी-भवन के "छूँकन" तथा मौर्य काल से लेकर कुषाण काल तक की वास्तु और मूर्तियों पर बने हुये कुछ "डिजाइनों" के विषय में कुछ विद्वानों का यह मत है कि उन पर ईरान की कला की छाप पड़ी है। किन्तु इस कथन की पुष्टि के लिये अभी तक यथेष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं। मौर्य काल तक भारतीय मूर्तिकला में ही पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। अशोक कालीन मूर्तियों में हमें कलाकारों के उच्च कौशल का परिचय मिलता है। इन मूर्तियों का निर्माण इतने सुन्दर ढंग से हुआ है कि उनमें भद्दापन तथा मोटापन तो नाम मात्र को भी नहीं मिलता, सर्वत्र सूक्ष्मता तथा हाथ की कुशलता समान रूप से दृष्टिगोचर होती है।

(५) **शुंगकाल**—मौर्य वंश में सम्प्रति के बाद जो शासक हुए, वे राज्य सञ्चालन में अधिक कुशल न थे। अशोक के समय की समृद्धि एवं शांति अब देश में नहीं रह गई थी। फलतः अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ के समय में सेना ने विद्रोह खड़ा कर दिया। सेनापति पुष्यमित्र ने इस अवसर का उचित लाभ उठाया और बृहद्रथ को मार कर सम्पूर्ण मध्यप्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसी का वंश शुंग वंश कहलाया। इस युग में मूर्ति कला की दृष्टि से साँची और भरहुत का विशेष स्थान है। अतः यहाँ पर संक्षेप में उनका क्रमशः वर्णन किया जाता है—

साँची—साँची में अशोक के समय का बना हुआ एक बड़ा स्तूप है। उसके चारों ओर तोरण बने हुए हैं और परिक्रमा करने



चित्र नं० २३

के लिये "दोहरी वेदिका" भी बनी हुई है। ये तोरण तथा वेदिका ही शुंगकालीन मूर्तिकला के प्रधान नमूने हैं। पूरे तोरण की ऊँचाई लगभग चौंतीस फीट है और उसमें जो खम्भे हैं, वे चौदह फीट ऊँचे हैं। तोरणों पर बुद्ध की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाले अनेक सुन्दर एवं सजीव चित्र बने हुये हैं। उन पर कहीं-कहीं सिंह, हाथी, महिष, मृग नाग इत्यादि के जीते-जागते चित्र बने हुए हैं जो ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वे बोधिवृक्ष का अभिवादन कर रहे हों (चित्र नं० २३)। कहीं बुद्ध के पूर्व-जन्म के उस समय का दृश्य अंकित किया गया है, जब वे छः दाँत वाले हाथी थे और अपनी हथिनियों के साथ कमल-सरोवर में क्रीड़ा कर रहे थे। कहीं-कहीं उन पर मुनियों के आश्रम के दृश्य दिखाए गए हैं। इन सब दृश्यों को इस प्रकार खोदकर अंकित किया गया है कि उन्हें मूर्तियों के बदले पत्थर पर उभरे हुये चित्र कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है और वह यह कि इन तोरणों पर कहीं भी हमें बुद्ध की मूर्ति नहीं मिलती। उनका स्थान स्वस्तिक, कमल अथवा चरण आदि के संकेतों से ही सूचित किया गया है। भरहुत और अमरावती के स्तूपों में भी हमें यही बात मिलती है। इसका कारण यह है कि सभी युग-पुरुषों की तरह बुद्ध यह नहीं चाहते थे कि उनकी मूर्ति बनाई जाय। अतः उन्होंने अपने शिष्यों को इस ओर कदम बढ़ाने से रोक दिया था।

भरहुत—यहाँ तक तो हुआ साँची की मूर्तिकला का वर्णन। अब हम भरहुत की मूर्तिकला पर विचार करेंगे। मूर्तिकला की दृष्टि से यह स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। साँची के पश्चात् इसी का नाम आता है। १८७३ ई० में जनरल कनिंघम को यहाँ पर एक बड़ा बौद्ध स्तूप मिला था जिसके चारों ओर पत्थर की एक बाढ़ थी और वह पत्थर की बाढ़ अद्भुत मूर्तियों से सुशोभित थी।

भरहुत की मूर्तियों में हमें भिन्न-भिन्न विषयों का समावेश मिलता है। लगभग चालीस मूर्तियाँ तो बुद्ध जातकों से सम्बन्ध रखने वाली हैं और लगभग छः मूर्तियों में बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक दृश्यों का अंकन है। इन दृश्यों में दो दृश्य विशेष उल्लेखनीय हैं—एक तो बुद्ध के दर्शन को जाते हुए कोशलाधीश प्रसेनजित के रथ का दृश्य, और दूसरे उसी हेतु हाथी पर जाते हुए मगध के राजा अजातशत्रु का दृश्य। इनके अतिरिक्त यक्ष-यक्षिणियों की, पशुओं की, तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्षों की भी अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। ये मूर्तियाँ बिलकुल सजीव प्रतीत होती हैं और स्वाभाविकता का निर्वाह तो उनमें बड़ी ही सुन्दर रीति से हुआ है (चित्र नं० २४—२५)। उनकी सुन्दरता और मौलिकता भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। व्यावहारिक जीवन की कतिपय उपयोगी वस्तुओं की भी मूर्तियाँ पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं। कोई कोई जातक दृश्य तो इस ढंग से बनाए गए हैं कि उन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति हँसे बिना नहीं रह सकता; विशेषतः वे दृश्य जिनमें बन्दरों की लीलाएँ दिखाई गई हैं। उदाहरणार्थ एक दृश्य ऐसा है जिनमें बन्दरों का एक समूह बाजा बजाते हुए एक हाथी को लिए जा रहा है। दूसरे स्थान पर एक मनुष्य का दाँत एक बड़े भारी सँड़से से उखाड़ा जा रहा है जिसको एक हाथी खींच रहा है।

इन सब मूर्तियों में हमें साँची की मूर्ति-कला की शैली की बहुत कुछ समानता दिखाई देती है। एक बात जो साँची और भरहुत के दृश्यों में समान रूप से पाई जाती है, वह है बुद्ध की मूर्ति का अभाव। दूसरे भरहुत की मूर्तियाँ भी चिपटे डौल की हैं। इन्हें भी साँची की मूर्तियों के समान पत्थर पर काटे गए उभरे हुए चित्र कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। किन्तु जहाँ इनमें एक ओर इतनी समानताएँ हैं वहाँ इनकी कुछ अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं। साँची की मूर्ति-कला की

विशेषताओं का वर्णन हो चुका है, अब यहाँ केवल भरहुत की मूर्ति-कला की विशेषताओं का ही विवेचन किया जायगा। इन मूर्तियों की कला में लोक-कला का समावेश अधिक मात्रा में पाया जाता है। इनमें अशोक-कालीन स्तम्भों और साँची के तोरणों की सी स्वच्छता नहीं है। भरहुत की लोक-कला शुंग कालीन प्रायः सभी मूर्तियों में विद्यमान है। कारण यह है कि उस समय देश में बौद्ध-धर्म का प्रभाव सर्वत्र फैल गया था। अतः यह आवश्यक ही था कि बौद्ध सम्प्रदाय की भावनाओं की अभिव्यक्ति लोक-कला द्वारा ही हो। यदि शैली की दृष्टि से हम शुंगकालीन मूर्तियों पर



चित्र नं० २४



चित्र नं० २५

विचार करें तो हम उन्हें दो भागों में विभाजित कर सकते हैं :—एक तो मौर्य शुंगकालीन और दूसरी शुंगकालीन लोक-कला। पहिले विभाग के प्रमुख उदाहरण हैं साँची के तोरण जिनकी शैली में अशोक कालीन शैली की बहुत प्रधानता है (चित्र नं० २३); और दूसरे विभाग के अंतर्गत आती हैं भरहुत की मूर्तियाँ।

साँची और भरहुत के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी इस काल की बनी हुई मूर्तियाँ मिलती हैं। उड़ीसा के उदयगिरि और खण्ड-गिरि में कई गुफाएँ हैं जिनमें एक रानीगुफा भी है जिसके द्वार पर मूर्तियों की एक लम्बी श्रेणी है। इसकी मूर्ति कला में अपनी एक निजी विशेषता है। ऐसा जान पड़ता है कि यह पत्थर की मूर्ति न होकर काठ पर की गई चित्रकारी है।

इस काल की बनी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ भी भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में पाई जाती हैं। जैसा पहिले कह चुके हैं, शुंगकालीन मूर्तियाँ चिपटे डौल की होती थीं। यही विशेषता इन मिट्टी की मूर्तियों में भी पाई जाती है। इन मूर्तियों का विस्तारपूर्वक वर्णन करना इस छोटे से निबन्ध में सम्भव नहीं।

(६) कुषाण सालिवाहन काल—शुंग वंश के बाद भारत में कुषाण सालिवाहन काल का प्रारम्भ होता है। इस समय में देश समृद्धिशाली था तथा कला की यथेष्ट रूप में उन्नति हुई थी। मूर्ति-कला की दृष्टि से भी यह समय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस काल में गांधार तथा उसके आस-पास के प्रदेशों में एक नवीन मूर्ति-शैली का विकास हुआ जिसका विषय तो सर्वथा बौद्ध है, पर शैली यूनानी जान पड़ती है। इस शैली की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं, परन्तु उन पर कोई ऐसा लेख नहीं है जो उनके समय निर्धारण में सहायक हो सके। किन्तु अन्य प्रमाणों से ऐसा जान पड़ता है कि

ये मूर्तियां ई० पू० ५० वर्ष से लेकर ३०० वर्ष तक की हैं। इन मूर्तियों में बुद्ध भगवान् की प्रतिमाओं का बाहुल्य है जो हमें इनसे पूर्व की मूर्तियों में नहीं मिलता। इन मूर्तियों से सम्बन्धित विचारणीय प्रश्न ये हैं :—(१) यह शैली कैसे उत्पन्न हुई ? (२) कहाँ तक यह शैली भारतीय मूर्ति-कला से प्रभावित है ! बुद्ध मूर्ति की कल्पना स्वयं इसने की या और कहीं से ली ? और: तत्कालीन तथा आगामी भारतीय मूर्ति-कला पर इसका क्या प्रभाव पड़ा ?

ये प्रश्न अत्यन्त ही विवादास्पद हैं। इन पर दो दलों ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से विचार-प्रकाशन किया है। इनमें से एक दल का कथन है कि भारतीय मूर्ति-कला का इस पर कोई प्रभाव नहीं है। बुद्ध की मूर्ति की कल्पना पहिले इसी मूर्ति-कला ने की है तथा आगामी भारतीय मूर्ति-कला पर इसका गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा। दूसरा दल पूर्ण रूप से इन सब बातों का विरोध करता है। पहले दल के प्रमुख प्रतिनिधि हैं फुशे, विन्सेन्ट स्मिथ तथा सर जान मारशल; और दूसरे दल के मुख्य प्रतिनिधि हैं हैवेल, जायसवाल तथा डाक्टर कुमारस्वामी। इन दोनों ही दलों ने अपने-अपने पक्ष में पर्याप्त तर्क उपस्थित किए हैं जिनका स्थानाभाव के कारण यहाँ दिग्दर्शन नहीं कराया जा सकता।

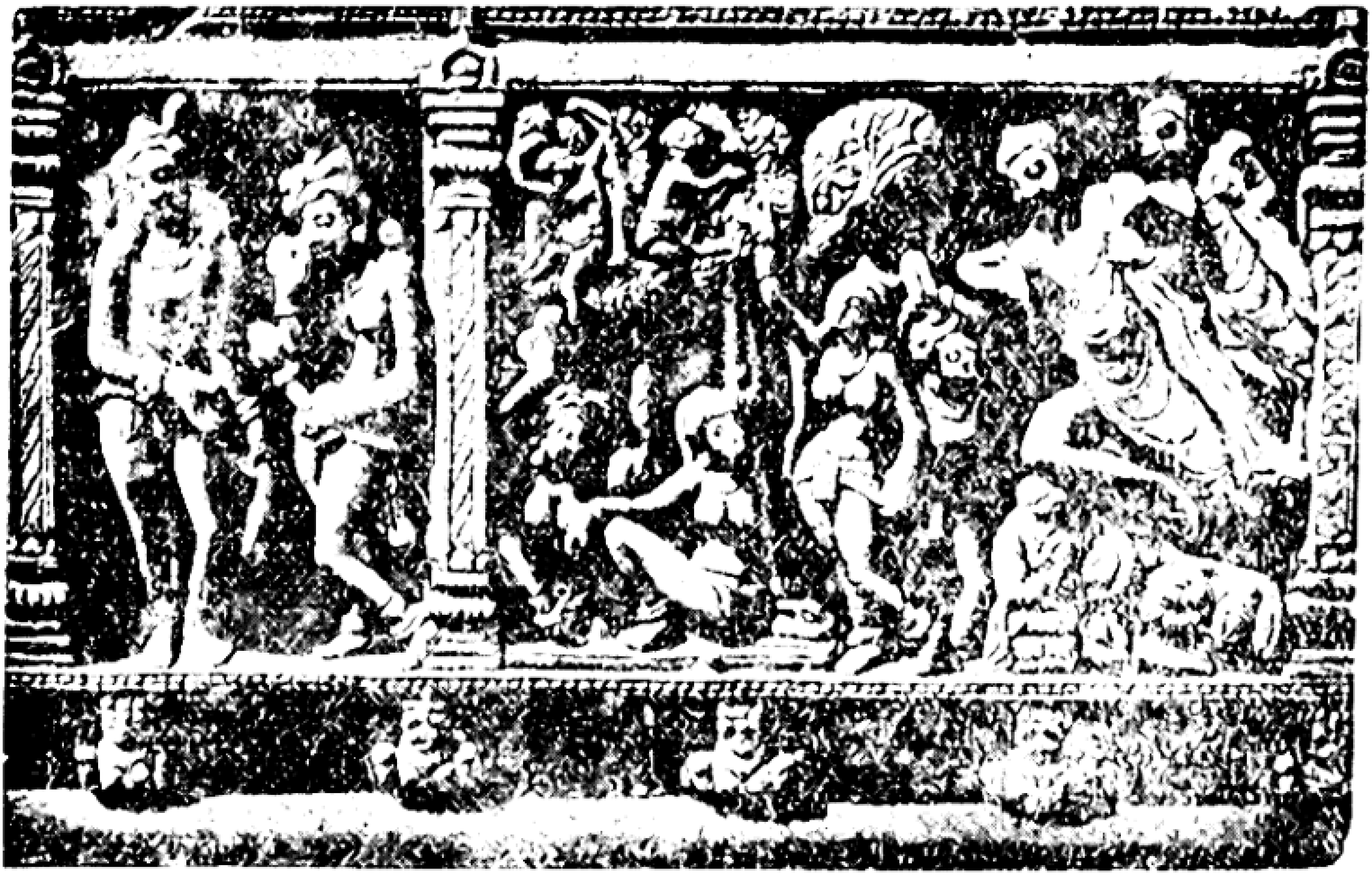
इस काल में मथुरा में भी कला की बड़ी उन्नति हुई। शुङ्ग काल में भरहुत की उपरिलिखित लोक-शैली तथा साँची की उन्नत-शैली दोनों ही प्रचलित थीं। परन्तु इस काल में दोनों ही शैलियाँ आकर एक हो गईं। फलतः उस काल में इन दोनों के मिश्रण से शैली का एक सम्मिलित रूप सामने आ जाता है। उदाहरण के लिए मथुरा की मूर्तियों के डौल चिपटे नहीं हैं किंतु भरहुत के अलंकरण

उनमें प्रायः ज्यों के त्यों ही पाये जाते हैं। इस समय की अनेक मूर्तियाँ मथुरा में प्राप्त हुई हैं। ये सब सफेद चित्ती वाले रवादार पत्थर की बनी हुई हैं। इस समय की मूर्तियों में हमें बुद्ध भगवान् की पद्मासन लगाए खड़ी प्रतिमाएँ भी मिलती हैं। इन पर गान्धार शैली का थोड़ा भी प्रभाव नहीं है। इनमें गांधार-शैली की सी वास्तविकता नहीं दिखाई देती। एक बात और ध्यान देने योग्य है। इस काल की बुद्ध की खड़ी मूर्तियाँ जो मथुरा में मिली हैं, वे शैशुनाक तथा जैन मूर्तियों की शैली से स्पष्ट रूप से प्रभावित जान पड़ती हैं। यदि मथुरा के शिल्पी गांधार-शैली के ऋणी होते तो उपरोक्त परम्परा कदापि नहीं पाई जाती। मथुरा में कुषाण राजाओं की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनका गांधार शैली से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यदि मथुरा के शिल्पी मूर्ति-निर्माण की अपनी एक निजी विशेषता न रखते होते अथवा गांधार-शैली ही उस समय की एक प्रधान शैली होती तो इतना निश्चित है कि कुषाण-सम्राटों की ये मूर्तियाँ भी गांधार शैली में ही बनी होतीं।

इस काल की मथुरा मूर्ति-शैली पर निर्मित मूर्तियाँ इतनी अधिक संख्या में हैं कि उन सब का वर्णन करना यहाँ पर अनुपयुक्त होगा। अतः हम यहाँ केवल मूर्ति-स्तम्भ का ही उदाहरण देकर संतोष करेंगे। यह मूर्ति-स्तम्भ लाल चित्तीदार पत्थर का बना हुआ है जिसमें सामने के भाग में एक स्त्री खड़ी हुई है। इस स्त्री का पूरा चित्र बड़ी अनुपमता के साथ खींचा गया है। मूर्ति के ठीक पीछे एक खम्भा बना हुआ है जिसके ऊपर "परगहे" में पंखवाली चार सिंह-नारियाँ बनी हुई हैं। यह मूर्ति किसी प्रासाद अथवा उद्यान को अलंकृत करने के लिए बनाई गई प्रतीत होती है।

एक ओर जहाँ उत्तरी भारत में गांधार तथा मथुरा-शैली की

प्रधानता थी, वहाँ दूसरी ओर दक्षिण भारत में इसी काल में एकाध ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि वहाँ के शिल्पियों ने प्रस्तर शिल्प की काफी उन्नति की थी। मद्रास के गन्टूर जिले के अमरावती नामक कस्बे में ईसा से लगभग २०० वर्ष पूर्व एक विशाल बौद्ध-स्तूप बनाया गया था। इसमें अनेक मूर्तियाँ तथा अलंकरण बने हुए हैं। यहाँ की कला भक्ति-भावना से ओत-प्रोत



चित्र नं० २६

है। कहीं-कहीं हास्योत्पादक दृश्य भी हैं। यहाँ कुछ बुद्ध की मूर्तियाँ भी हैं जिनमें गम्भीरता और उदासीनता पाई जाती है। इन मूर्तियों की ऊँचाई ६ फीट से भी अधिक है। इसी जिले में ही नागार्जुन गोंडा नामक एक स्थान है जहाँ हाल ही में एक स्तूप के कुछ अवशेष मिले हैं। इनके देखने से प्रतीत होता है कि यहाँ की मूर्तिकला

अमरावती की मूर्तिकला के समान उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती चित्र नं० २६)।

(७) गुप्तकाल—यह काल भारत के इतिहास का स्वर्णयुग कहलाता है। इस काल में देश सभी दृष्टियों से उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ था। कलाओं का विकास भी इस काल में पूर्ण रूप से हुआ। मूर्तिकला ने भी यथेष्ट उन्नति प्राप्त की। मूर्तिकार सौंदर्य के रहस्य को अच्छी तरह समझते थे। उसकी अभिव्यक्ति भी उन्होंने अपनी मूर्तियों द्वारा भली भाँति की है। उनकी कला भावुकता एवं आध्यात्मिकता का सुन्दर सम्मिश्रण है तथा सुन्दरता एवं रमणीयता का अपूर्व सामञ्जस्य है। उन्होंने अपनी कला को अलंकृत किया है किन्तु साथ ही यह ध्यान भी रक्खा है कि कहीं यह आलंकारिकता कला के वास्तविक सौंदर्य को नष्ट न कर दे। अतः आलंकारिकता का उतना ही प्रयोग किया है जो मूर्ति के सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण में विशेष रूप से सहायक हो। उन्होंने आलंकारिकता को ही सब कुछ मानकर मूर्ति के वास्तविक सौन्दर्य की अवहेलना नहीं की है।

जहाँ तक खोज हुई है, अभी तक कोई ऐसा गुप्तकालीन मन्दिर नहीं मिला है जिसमें उच्च कोटि की कला सन्निहित न हो अथवा जिसे हम उस समय का आदर्श उदाहरण न मान लें। इस काल में बुद्ध भगवान् की कई मूर्तियाँ मिलती हैं जिनमें मुख्य ये हैं—

(१) सारनाथ की बुद्ध मूर्ति—इसमें बुद्ध भगवान् पद्मासन पर बैठे हुए दिखाए गए हैं। प्रतिमा को देखने से ही बुद्ध भगवान् की गम्भीरता, अपूर्व शांति एवं उनकी कोमलता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। यद्यपि उनके प्रत्येक अंग से सुकुमारता टपकी पड़ती है तथापि उसमें सांसारिक जड़ता का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं आने पाया



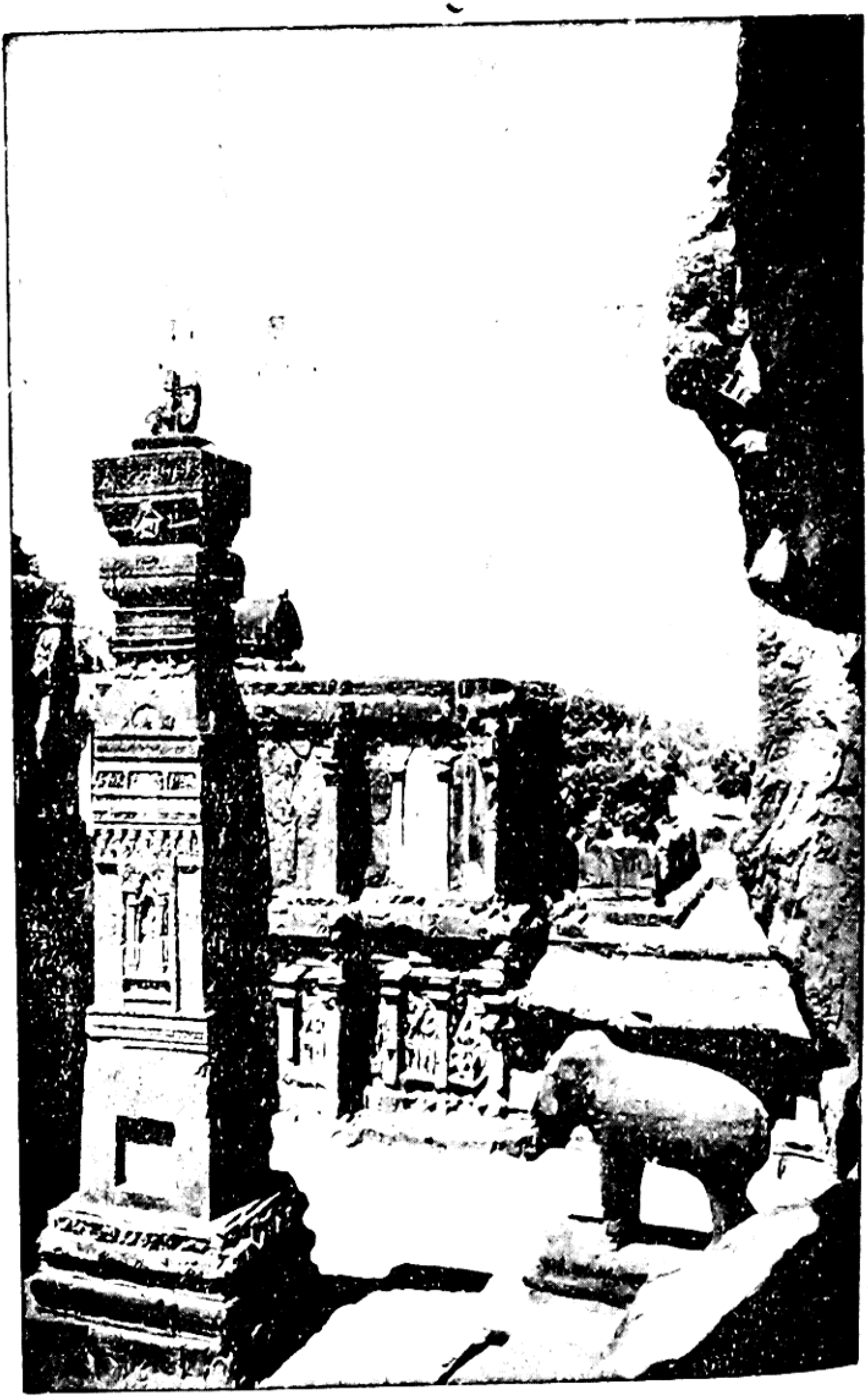
चित्र नं० २७



चित्र नं० २८

है (चित्र नं० २७)। **(२) मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध मूर्ति**—इस मूर्ति का मुख-मण्डल शांत, करुणामय एवं आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत जान पड़ता है। साथ ही मुख पर एक हल्की सी मुस्कान भी है। बुद्ध भगवान् एक निष्कम्प दीपक की भाँति स्थिरता पूर्वक खड़े दिखाई पड़ते हैं (चित्र नं० २८)। **(३) ताम्र की खड़ी हुई बुद्ध मूर्ति**—यह मूर्ति भागलपुर जिले के सुल्तानगंज में मिली है और इस समय बरमिंघम संग्रहालय में सुरक्षित है। इस मूर्ति के मुख-मण्डल पर भी अपूर्व शांति एवं दिव्यता का राज्य है। ये तीन मूर्तियाँ वास्तव में बुद्ध की सर्व-श्रेष्ठ मूर्तियाँ कही जा सकती हैं। ऐसा मालूम होता है मानों कलाकारों ने अपनी भक्ति-भावना का प्रदर्शन पूर्ण रूप से इन मूर्तियों में ही कर दिया है। इन भक्त कलाकारों ने इनमें अपने आराध्य भगवान् बुद्ध का दिव्य दर्शन कराकर मानव-जाति का बड़ा कल्याण किया है।

बुद्ध-मूर्तियों के अतिरिक्त इस काल में ब्राह्मण-धर्म की भी मूर्तियाँ मिलती हैं जिनमें मुख्य-मुख्य ये हैं - (१) भगवान् वाराह की मूर्ति जो भेल्सा के पास मिली है। इसमें भगवान् के अपूर्व तेज और शक्ति का प्रदर्शन किया गया है। (२) गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति जो काशी में मिली थी और जो इस समय सारनाथ के संग्रहालय में रक्खी है। इसमें कृष्ण का वह शक्तिशाली रूप प्रदर्शित किया गया है जिसमें वह गोवर्धन पर्वत को धारण करते हुए दिखाए गए हैं। (३) देवगढ़ में गुप्त मन्दिर का अवशेष। इसकी बाहरी दीवालों पर बहुत से सुन्दर दृश्य बने हुए हैं। ये सभी दृश्य अपनी भावुकता, सजीवता और रमणीयता के अपूर्व सम्मिश्रण से दर्शकों के मन को मुग्ध कर लेते हैं। (४) सूर्य की मूर्ति। यह मूर्ति अत्यन्त भव्य और सुन्दर है।



चित्र नं० २६

(५) कार्तिकेय की मूर्ति जो इस समय कला-भवन काशी में सुरक्षित है। यह मूर्ति गुप्तकालीन मूर्तियों में अपना एक विशेष स्थान रखती है। इसमें कार्तिकेय भगवान् की गम्भीरता, शक्ति एवं उत्साह का बड़ा ही सुन्दर अंकन हुआ है। भगवान् अपने वाहन मयूर पर स्थित दिखाए गए हैं।

इन मूर्तियों के अतिरिक्त पहाड़पुर (बंगाल) में कृष्ण लीला से सम्बन्ध रखने वाली अनेक सुन्दर और सजीव मूर्तियाँ मिली हैं। उधर पश्चिम में भरतपुर राज्य में चार बड़ी मूर्तियाँ मिली हैं। इन मूर्तियों में गुप्तकाल की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। इस काल में मिट्टी की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ तथा 'फलक" भी बनते थे जो पत्थर की मूर्तियों से भी अधिक सुन्दर एवं सजीव हैं। गुप्त राजाओं के स्वर्ण सिक्के भी इस काल की मूर्ति-कला के अत्यन्त सुन्दर नमूने हैं।

(८) पूर्व मध्य काल—गुप्त वंश के बाद बहुत दिनों तक देश में कोई स्थायी राज्य-सत्ता नहीं रही। कहीं कहीं तो अराजकता के चिह्न तक दिखाई देने लगे, परन्तु इस काल में भी हमें बहुत सी ऐसी मूर्तियाँ मिलती हैं जो उच्च कोटि की मूर्ति-कला की द्योतक हैं। इस काल की मूर्ति-कला में यद्यपि गुप्त काल की अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं, तथापि इनमें घटनाओं के जो बड़े-बड़े दृश्य अंकित किए गए हैं, वे इस काल की एक निजी विशेषता के सूचक हैं। इन दृश्यों में काफी गति और अभिनय पाया जाता है। इसी कारण से कुछ विद्वान् इस काल को भारतीय मूर्ति-कला का सब से अच्छा काल समझते हैं। इस काल की मूर्ति-कला के तीन मुख्य केन्द्र हैं—

(१) वेरूल में (जिसे आज कल एलोरा कहते हैं) पहाड़ काट कर मन्दिर बनाये गये हैं। इनकी संख्या पचीस-तीस से भी अधिक है। इनमें ब्राह्मण मन्दिर ही नहीं, बौद्ध और जैन मन्दिर भी हैं। इन

मन्दिरों में कैलाश नामक ब्राह्मण मन्दिर सर्वश्रेष्ठ है। इसकी विशालता तथा सुन्दरता दर्शनीय है। (चित्र नं० २९)

मन्दिर के प्रत्येक भाग का निर्माण दोषरहित एवं कला-कौशल से पूर्ण है। उसके चारों ओर एक विशाल आँगन है जो प्रकृति की देन को नहीं, प्रत्युत् मनुष्य के हस्त-कौशल को प्रकट करता है। इस विशाल एवं विस्तृत आँगन को देखकर दर्शक आश्चर्यान्वित हुये बिना नहीं रह सकता। इसी विशाल आँगन में वह अनुपम मन्दिर है जिसमें बहुत ही सुन्दर सुन्दर द्वार, झरोखे एवं स्तम्भ बने हुये हैं। इन द्वारों, झरोखों तथा स्तभों का निर्माण पहाड़ को काटकर तथा उसे खोखला बनाकर किया गया है। ईंट, चूना इत्यादि एकत्रित करके हम एक ऊँची से ऊँची इमारत बनवाने की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु पहाड़ों को काटकर तथा उन्हें खोखला बनाकर भी हम इस प्रकार की भव्य इमारत तैयार कर सकते हैं, यह वास्तव में एक विचारणीय प्रश्न है।



चित्र नं० ३०

उक्त स्तम्भों के ऊपर तीन प्रतिमा मण्डप हैं जिनमें बयालीस दृश्य, जिनका सम्बन्ध पौराणिक वृत्तान्तों से है, अंकित है। जैसे नृसिंह और हिरण्यकश्यप (चित्र नं० ३०)। कैलाश को उठाते हुये रावण का दृश्य अंकित

किया गया है। पार्वती भयभीत होकर शिव जी के शक्तिशाली भुजदण्ड का आश्रय ले रही हैं। उनकी सहेलियाँ अस्त-व्यस्त तथा भागती हुई दिखाई गई हैं। किन्तु भगवान् शिव अत्यन्त दृढ़ता-पूर्वक बैठे हुये अपने चरण से कैलाश को दबाते हुये दिखाये गये हैं (चित्र नं० ३१)। अन्य मन्दिरों में भी जो दृश्य पाए जाते हैं, वे अत्यन्त ही स्वाभाविक सुन्दर एवं सजीव बन पड़े हैं—उदाहरण के लिये नृसिंहावतार का दृश्य, भैरव की मूर्ति और इन्द्र इन्द्राणी की मूर्ति।



चित्र नं० ३१

(२) दूसरे प्रमुख मूर्ति-केन्द्र एलिफेन्ट के गुफा-मन्दिर हैं। इन मन्दिरों में महेश्वर की प्रकांड त्रिमूर्ति तथा शिव के ताण्डव नृत्य आदि की अनेक उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं।

पहिली मूर्ति के मुख पर अपूर्व गम्भीरता है। उस पर विशाल जटाजूट एक सुन्दर मुकुट का काम दे रही है। इस काल की मूर्तियों में हमें एक बात मिलती है। वह यह कि इनमें नीचे के ओंठ का ऐसा निर्माण हुआ है कि वह मोटा और निकला हुआ दिखाई पड़ता है (चित्र नं० ३२)। महेश्वर की प्रकांड मूर्ति में भी यही विशेषता पाई जाती है। दूसरी मूर्ति जिस रूप में आजकल प्राप्त है, वह उसका

खंडित रूप है। किन्तु इतना होते हुए भी वह भावों में डूबे हुए नृत्यकार का उत्कृष्ट उदाहरण है। यहाँ की योगिराज शिव की मूर्ति भी



चित्र नं० ३२

अत्यन्त गम्भीर एवं सुन्दर है। इनके अतिरिक्त शिव और पार्वती के विवाह का जो दृश्य अंकित किया गया है, वह तो वेरूल अर्थात्

एलोरा से भी अधिक सुन्दर बन पड़ा है। इस दृश्य में दो बातें दिखाई गई हैं—एक तो पार्वती के आत्मसमर्पण की भावना, दूसरे महादेव जी की उन्हें सप्रेम स्वीकार करने की भावना। मूर्तिकार ने इन दोनों ही भावनाओं की बड़ी ही सफल अभिव्यक्ति की है।

(३) तीसरे मुख्य केन्द्र काँची के सामने समुद्र-तट पर स्थित मामल्लपुरम् के विशाल मन्दिर हैं जिन्हें "रथ" कहते हैं। इनकी गिनती संसार की अद्भुत वस्तुओं में की जाती है, किन्तु मामल्लपुरम् की सबसे आश्चर्यप्रद मूर्ति वह है जिसमें भगीरथ की तपस्या का दृश्य अंकित किया गया है। यह मूर्ति एक विशाल चट्टान पर बनी हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि इस दृश्य में अंकित पशु इत्यादि भी भगीरथ के साथ तपस्या में लगे हुए हैं। यह दृश्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन पड़ा है (चित्र नं० ३३)।

(६) उत्तर मध्य काल—दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से मध्यकाल का उत्तरार्द्ध चलता है। इस काल में कलाकारों की कल्पना-शक्ति प्रायः क्षीण होती चली जा रही थी। अब मूर्ति-निर्माता केवल शिल्पी रह गए थे। उनकी कृतियों में मौलिकता का अभाव हो गया था। गुप्त काल की कुछ विशेषताओं का रूढ़ियों के रूप में ध्यान रखते हुए ये मूर्तिकार अलंकृत शैली की ओर प्रवृत्त हो रहे थे। इस काल को मूर्तियों के चमत्कार का ही युग कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि इस काल में मूर्तियाँ विशेष कर सजावट की ही दृष्टि से बनाई जाती थीं। इस काल की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से तो नहीं, परन्तु अपनी आश्चर्य-जनक सौन्दर्य और आलंकारिकता से दर्शकों पर बड़ा प्रभाव डालती हैं।

कला की दृष्टि से हम उत्तर मध्यकालीन भारत को साधारणतया छः मण्डलों में विभाजित कर सकते हैं—(१) उड़ीसा मण्डल



चित्र नं० ३३



चित्र नं० ३४

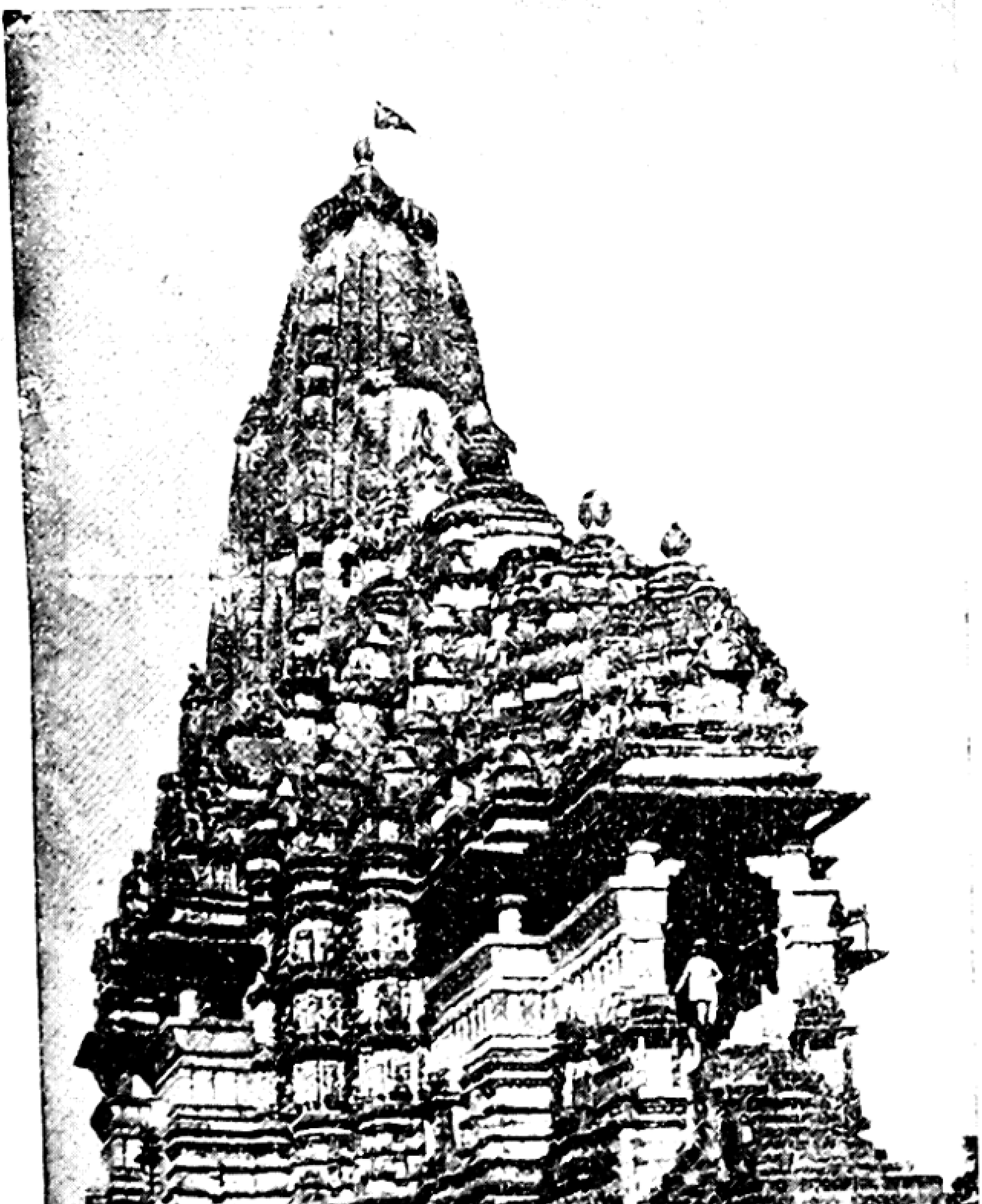
जिसके प्रमुख मन्दिर भुवनेश्वर (चित्र नं० ३४), कोणार्क और पुरी में हैं (२) बंगाल-बिहार मण्डल जिसकी मूर्तियों का सम्बन्ध विशेष रूप से महायान बौद्ध-धर्म से है। (३) बुन्देलखण्ड मण्डल जिसके मुख्य उदाहरण खजुराहों के मन्दिर हैं (चित्र नं० ३५)। (४) मध्य भारत मण्डल जिसके अन्तर्गत धारा नगरी के परमारों के बनवाए हुए मन्दिर हैं। (५) गुजरात-राजस्थान-मण्डल जिसमें गुजरात के सोलंकों तथा अजमेर के चौहानों के बनवाए हुए मन्दिर हैं। (६) तामिल-मण्डल जिसके अन्दर दक्षिण भारत के तत्कालीन बड़े बड़े मन्दिर हैं।

इस काल की मूर्तिकला का मन्दिर कला से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः हम थोड़े में मन्दिर कला पर भी विचार करेंगे। बुन्देलखण्ड में स्थित खजुराहों का मन्दिर-समूह इस काल की कला का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है। इस मन्दिर-समूह में कण्डरियानाथ महादेव का मन्दिर उल्लेखनीय हैं (चित्र नं० ३५)। इसके प्रत्येक भाग में आलंकारिक "अभिप्रायों" की अधिकता है, किन्तु इनमें बहुत-सी ऐसी अश्लील मूर्तियाँ भी हैं जिनका मन्दिर के पवित्र वातावरण में होना असंगत तथा अनुचित प्रतीत होता है। जैन-मन्दिरों में ऐसी अश्लील मूर्तियों का प्रायः अभाव है। ग्वालियर के किले में इस काल का बना हुआ सास-बहू का मन्दिर भी बहुत सुन्दर है।

इस काल की अलंकृत शैली गुजरात के मन्दिरों में पराकाष्ठा को पहुँच गई है। मुधेरा का सूर्य-मन्दिर, सिद्धपुरपाटन के मन्दिर तथा सोमनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर इसी अलंकृत शैली का उदाहरण है। बड़नगर के १०२६ ई० के बने हुए तोरण में भी यही शैली पाई जाती है। इस काल के बने हुए अनेक मन्दिर उड़ीसा में भी पाए जाते हैं। इनमें से मुख्य पुरी का जगन्नाथ मन्दिर, कोणार्क

का सूर्य-मन्दिर तथा भुवनेश्वर के मन्दिर-समूह हैं (चित्र नं० ३४)। ये सभी मन्दिर अत्यन्त विशाल हैं। इनके शिखर ऊपर पहुँचकर कुछ गोल से हो गए हैं। उड़ीसा के मन्दिरों में भी अश्लील मूर्तियों की भरमार है।

उत्तर मध्य-काल के मन्दिरों के संक्षिप्त विवरण के बाद अब हम तत्कालीन मूर्तियों की ओर ध्यान देंगे। इस काल की मूर्तियों के विषय में कुछ विशेष बातें जान लेना आवश्यक है। अधिकतर मूर्तियों के मुख-मण्डल पर समाधि की भावना प्रकट की गई है। मुख-मण्डल में कपोल स्थूल तथा उभरे हुये होते हैं। इन मूर्तियों में अंगों और भाव भंगिमाओं का बहुत ही अतिरंजित प्रदर्शन हुआ है। वास्तविकता का विशेष ध्यान नहीं रक्खा गया है। उत्तर-भारत की मध्य-कालीन पत्थर की मूर्तियाँ दो भागों में बाँटी जा सकती हैं—एक तो चुनार या अन्य स्थानों के रवादार पत्थरों की बनी हुई और दूसरी पाल राजाओं के समय की बनी हुई बंगाल और बिहार की मूर्तियाँ जो गया के कसौटी और उससे मिलते-जुलते पत्थरों की बनी हुई है। साधारण पत्थर की मूर्तियों में महोवे से प्राप्त पद्मपाणि अवलोकितेश्वर और सिंहनाद अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ देखने योग्य हैं। इनमें हमें कलाकारों की मौलिकता का आभास मिलता है। कला-भवन में एक मूर्ति शिव तथा पार्वती के विवाह से सम्बन्ध रखने वाली है। यह मटमैल गुलाबी पत्थर की बनी है। और इसकी कला उच्च कोटि की है। इस मूर्ति में अत्यन्त स्वाभाविकता और सजीवता है। इसमें अलंकरणों की भी अनावश्यक अधिकता नहीं है। मध्य काल में नाचते हुये गणेश जी की मूर्तियाँ भी बनती थीं। ऐसी एक मूर्ति भारत कला॰ भवन काशी में है। यह चुनार के पत्थर की बनी हुई है। इसमें गणेश-जी का रूप बहुत ही भाव-पूर्ण है। नृत्य की प्रसन्नता उनकी मुखाकृति से प्रस्फुटित होती है। पाल राजाओं के समय में धातुओं की भी



चित्र नं० ३५

मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। इसमें भी सजावट की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

१४ वीं शताब्दी के आरम्भ से १६ वीं शताब्दी तक—१३ वीं शताब्दी के बाद की मूर्तिकला में पहिले जैसी सजीवता नहीं रह गई है। मुसलमान विजेता मूर्ति पूजा के विरोधी थे। उन्होंने मूर्ति-कला को प्रोत्साहित नहीं किया। अपितु वे उसको समूल नष्ट ही कर देना चाहते थे। परिणाम-स्वरूप इस काल की कला में मौलिकता का सर्वत्र अभाव पाया जाता है। सजावट की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

१५ वीं शताब्दी में महाराणा कुम्भा ने अपनी गुजरात विजय की स्मृति में एक बहुत बड़ा कीर्ति-स्तम्भ बनवाया। इसकी सजावट बड़े ही अच्छे ढंग से हुई है; परन्तु मूर्तियाँ बिलकुल निर्जीव-सी हैं। इस कीर्ति-स्तम्भ में अनेक देवी-देवताओं के अतिरिक्त स्थान स्थान पर नक्षत्र, मास तथा ऋतुओं की भी मूर्तियाँ बनी हैं। एक स्थान पर अरबी में अल्लाह का नाम भी खुदा है। १६ वीं शताब्दी में मानसिंह ने वृन्दावन में गोविन्द देव के मन्दिर का निर्माण कराया जिसकी विशेषता यह है कि सजावट के लिए ज्यामितिक आकारों का ही प्रयोग किया गया है। इन मन्दिरों को देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि उत्तर भारत में मूर्ति-कला का दिन पर दिन ह्रास हो रहा था।

संतोष का विषय है कि दक्षिण भारत में इस समय की मूर्ति-कला तथा मन्दिर-कला विद्यमान है। दक्षिण ने भारतीय मूर्ति-कला की परम्परा को बनाए रखने का बहुत पहिले से ही प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। जीवन की चेतना की अभिव्यक्ति दक्षिण भारत की मूर्ति-कला में भली भाँति हुई है। नटराज की प्रतिमा इसका एक जीता-जागता उदाहरण है। इस मूर्ति में भगवान् का नृत्यमय विराट् स्वरूप



चित्र नं० २६

भी प्रतिबिम्बित है। मूर्ति-कला के पुनरुद्धार की भावना ने ही दक्षिण को नटराज-प्रतिमा की उत्कृष्ट कल्पना में प्रवृत्त किया। नटराज-मूर्ति की तात्विक व्याख्या ब्रह्माण्ड के अहर्निश नृत्य से तथा नए सृजन से गर्भित ताण्डव नृत्य से की जाती है। मूर्ति कला के इतिहास में नटराज-मूर्ति का वही स्थान है जो भगवान् बुद्ध की मूर्तियों का। इस मूर्ति में गति और संस्कृति का निदर्शन किया गया है।

नटराज की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें अधिकतर ताँबे की बनी हैं (चित्र नं० ३६)। नटराज-मूर्ति का सब के अच्छा उदाहरण तंजौर के बृहदेश्वर मन्दिर में है। भगवान् नृत्य में मस्त हैं, उनके अंग-प्रत्यंग से स्फूर्ति झलक रही है; दाहिने हाथ में एक डमरू डिमक रहा है तथा बाएँ हाथ से अशिवदाहक अग्नि की लपटें निकल रही हैं। इन मूर्तियों के अतिरिक्त दक्षिण में "कांस" की और भी बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं जिनकी अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। दक्षिण ने धातु की अनेक व्यक्ति-मूर्तियाँ भी बनाई जिनमें उच्चकोटि की कला पाई जाती है। प्रसिद्ध राज्य विजयनगर में मूर्तिकला की अच्छी उन्नति हुई। इस नगर में अनेक मन्दिर तथा देव-स्थान बने हुए थे जिनमें प्रायः अलंकृत शैली का ही प्रयोग किया गया था। १६ वीं शताब्दी का बना हुआ ताड़पत्री (जिला आनन्दपुर, मद्रास) का मन्दिर विजयनगर-शैली का बड़ा ही अच्छा नमूना है। यह मन्दिर हरे पत्थर का बना है। सौभाग्यवश आजकल भी दक्षिण में ऐसे मूर्तिकार हैं जिनमें अच्छी मूर्तियों के निर्माण की क्षमता है। इन मूर्तिकारों में मौलिकता का भी अभाव नहीं है।

मूर्तिकला का ह्रास—भारतीय संस्कृति में मूर्तिकला और वास्तु कला का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध था उतना अन्य किसी देश की संस्कृति में नहीं मिलता। धर्म भारतीय संस्कृति का विशेष अंग रहा है।

मन्दिरों का निर्माण मूर्तियों के स्थापन के लिये ही होता था। मूर्तिकार अपनी समस्त भावनाओं को अपने इष्ट देव की मूर्ति में प्रकट कर देता था और अपनी सुन्दरतम् कल्पना को मूर्ति के रूप में परिणित कर देता था। यही कारण है कि समस्त देश में सुन्दर मूर्तियाँ पाई जाती हैं। यहाँ तक कि मन्दिरों के दीवालों पर भी देवी देवताओं की भव्य मूर्तियाँ मिलती हैं।

मुसलमान विजेता मूर्ति पूजा के विरोधी थे। अधिकांश आक्रमणकारियों ने मूर्तियों को तोड़ना अपने धर्म का एक अंग समझा। महमूद गजनवी सोमनाथ के मन्दिर की मूर्ति को भंग करते समय यह घोषित किया था कि वह संसार में मूर्ति को तोड़ने वाला प्रसिद्ध होना चाहता है न कि मूर्ति को पूजने वाला। राज्य स्थापित हो जाने के पश्चात भी मुसलमान शासकों की नीति मूर्ति तोड़ने की ही रही। मन्दिरों को नष्ट करके उन्हें धन और धर्म दोनों का लाभ होता था। पर मुगल शासक धर्म के विषय में सहिष्णु थे। यद्यपि इन्होंने सुन्दर भवनों का निर्माण करवाया जिससे वास्तुकला की बहुत उन्नति हुई परन्तु मूर्तिकला को तनिक भी प्रोत्साहन न दिया। मुगलों का अंतिम प्रभावशाली शासक औरंगजेब पूर्वजों के समान नहीं था। उसमें धार्मिक कट्टरता थी।

मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण कार्य हिन्दूशासकों के साथ-साथ समाप्त हो गया। दक्षिण में उत्तर भारत की अपेक्षा मुसलमानों का राज्य देर में स्थापित हुआ इस कारण मूर्तिकला का अंतिम केन्द्र दक्षिण ही रहा। राज्याश्रय न प्राप्त होने के कारण मूतिकला १३ वीं शताब्दी के पश्चात् लुप्तप्राय हो गई। कला के स्थान को कारीगरी ने ले लिया।

अंग्रेजों के काल में भी मूर्तिकला को कोई प्रोत्साहन न मिला। लोग मूर्तिकला को उपयोगिता के दृष्टिकोण से देखने लगे। वैज्ञानिक युग

में मूर्तिकला का स्थान निम्न हो गया। पढ़ी-लिखी जनता की रुचि न्यूनतन आधार वाली कला की ओर रही।

पर इस काल में यत्रतत्र सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित की गईं। ये मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं। प्रथम श्रेणी की वे मूर्तियाँ है जिनका संबंध ईसाई धर्म से है। इनमें प्रमुख ईसू मसीह तथा मेरी की हैं और इनकी स्थापना गिर्जों में हुई है। दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ शासकों की हैं। इनमें अधिकांश गवर्नर जनरल, विक्टोरिया, जॉर्ज पंचम तथा जॉर्ज षष्टम की हैं। ये मूर्तियाँ योरप की बनी हुई हैं और स्थापना भारतीय भूमि पर हुई हैं। इन सब पर यूरोपीय गोथिक कला की स्पष्ट छाप है। भारतीय मूर्तिकला से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यत्रतत्र मन्दिरों में भी मूर्तियाँ मिलती हैं जो भारतीय कारीगरों की बनाई हुई हैं। इनमें प्राचीन मूर्तिकला का पिष्टपेषण मात्र मिलता है। इनको यदि प्राचीन मूर्तियों का अनुकरण कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक काल में जितने भी वास्तुकला के उदाहरण प्राप्त होते हैं उनमें मूर्तिकला को कोई स्थान नहीं दिया गया। चित्रकारी और उद्यान सौंदर्य पर अधिक जोर दिया गया। इसके अलावा मौडलिंग (Modelling) से मूर्तिकला का ह्रास हुआ।

भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् इधर देश के कुछ नेताओं की मूर्तियाँ निर्मित हुई हैं। इनमें प्रमुख महात्मा गांधी जी की हैं। इन पर भी पाश्चात्य मूर्तिकला का प्रभाव पड़ा है। पाश्चात्य शैली के अनुकरण पर इनमें से कुछ तो सीने तक की हैं और कुछ पूरे शरीर की हैं। भविष्य में ऐसी आशा की जाती है कि भारतीय मूर्तिकला का पुनर्जागरण होगा और अतीत का गौरव पुनः स्थापित होगा।

परिशिष्ट

खोज सम्बधी कार्य

अभी तक जो खोज सम्बन्धी कार्य हुआ है उसका विवरण निम्न-लिखित है। इन खोजों से प्राचीन भारत की चित्रकला एवं मूर्तिकला पर अत्यधिक प्रकाश पड़ा है।

(१) भारत के शिला चित्र--पहाड़ों की गुफाओं में बनाये हुए चित्र चार स्थानों पर मिले हैं—

(१) मिर्जापुर की सोन घाटी में,

(२) मानिकपुर और बांदा के पहाड़ों में,

(३) रायगढ़ राज्य के सिंघनपुर और कबरा पहाड़ में और

(४) मध्य प्रदेश के महादेव पहाड़ी के होशंगाबाद और पंचमढ़ी स्थानों में।

इनमें जंगली पशुओं का शिकार, शहद निकालना, द्वंद युद्ध, भयानक पशुओं आदि का चित्रण है। इनमें रंगों का सुन्दर सम्मिश्रण है। इन चित्रों का समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा की चौथी शताब्दी तक माना गया है।

(२) तक्षशिला और गांधार---तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त स्तूप विशेष उल्लेखनीय हैं। स्तूपों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए जो मूर्तियाँ बनाई गई थीं वे बड़ी भव्य हैं। महात्मा बुद्ध की मूर्ति बड़ी आकर्षक है। उनकी मुद्रा शान्त है। गांधार में भी ऐसी ही मूर्तियाँ और स्तूप मिले हैं।

(३) राजगिरि---इसका प्राचीन नाम राजगृह है। यह पटना से ६० मील दूर है। यहाँ पर एक किले का अवशेष मिला है। इस स्थान पर खोज और खुदाई पूर्ण रूप से नहीं हुई है। आशा की जाती है कि कार्य पूरा होने पर भारतीय कला के उत्कृष्ट उदाहरण प्रकाश में आवेंगे।

(४) पाटलीपुत्र----इस स्थान पर आजकल पटना नगर (नया) स्थित है। यह मौर्य राजाओं की राजधानी थी। यहाँ पर बालू और मिट्टी को मिलाकर बनाई हुई मूर्तियाँ मिलती हैं जो ईंट की तरह पकाई जाती थीं।

(५) लौरिया नन्दगढ़—यह चम्पारन जिले (उत्तरी बिहार) में स्थित है। यहाँ १५ स्तूप तीन पंक्तियों में बने हुये मिले हैं। यहाँ पर कुछ स्वर्ण-पत्र मिले हैं और मौर्य कालीन अशोक-स्तंभ मिला है जो कि मौर्यकालीन कला का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(६) सारनाथ—यह स्थान बनारस जिले में है। यहाँ पर बौद्ध कालीन स्तूप पाया गया है जिस पर फूल पत्तियों के सुन्दर चित्र अंकित है। बोधिसत्व की मूर्ति भी पाई गई है। सारनाथ की शिल्प-कला उच्चकोटि की मालूम होती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी सारनाथ की कला की सराहना की है।

(७) नालंदा—यह स्थान राजगिरि से ६ मील की दूरी पर उत्तर की ओर स्थित है। यहाँ पर महात्मा बुद्ध की तथा बौद्ध धर्म की देवी-देवताओं की बहुत सी मूर्तियाँ मिली हैं। यहाँ के कलाकारों ने छोटी मूर्तियों में महीन काम में अपनी निपुणता दिखलाई है। यहाँ पर करीब ५०० पीतल की मूर्तियाँ मिली हैं जिससे मालूम होता है कि यहाँ पर मूर्तियों के ढालने की शिक्षा का भी प्रबन्ध था। मिट्टी

और बालू के मिश्रण से बनी हुई पक्की मुहरें भी मिली हैं जिनमें कुछ पर महात्मा बुद्ध का चित्र बना है।

(८) **पहाड़पुर**—यहाँ पर पहले मठ था। प्रधान मन्दिर की दीवालों पर लगभग ३००० मिट्टी और बालू के मिश्रण से बने हुये पक्के चौकोर टुकड़े हैं जिन पर हिन्दू तथा बौद्ध देवी-देवता, पशु, पौराणिक कथायें आदि चित्रित हैं। उसी मन्दिर के पास बौद्ध देवी तारा का भी एक मन्दिर है।

(९) **अहिछत्रा**—यह पंचाल नरेशों की राजधानी थी जिनका उल्लेख महाभारत में मिलता है। यहाँ पर स्तूप, टूटी दीवालें और हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं।

(१०) **शिशुपालगढ़**—उड़ीसा में भुवनेश्वर के पास यह स्थान स्थित है। मन्दिरों तथा अशोक के शिलालेखों के भग्नावशेष यहाँ मिले हैं। ईंटों की सुन्दर दीवालें मिली हैं। खम्भों पर की हुई काली पालिश आज भी उसी अवस्था में है।

(११) **मथुरा**—मथुरा सदा से धार्मिक केन्द्र रहा है। यहाँ पर एक जैन स्तूप का पता लगा है। कुशान काल के जैन शिल्प कला के सुन्दर उदाहरण मिले हैं।

इसके अतिरिक्त इलाहाबाद जिले के भीटा तथा कौशाम्बी, गोरखपुर जिले के कसिया, श्रावस्ती (अवध), गोंडा, बहराइच आदि स्थानों पर अनेक मूर्तियाँ मिली हैं जो हिन्दू और बौद्ध धर्म के देवी-देवताओं की हैं तथा मिट्टी और बालू के मिश्रण से बनी हैं और पक्की हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि समस्त उत्तरी भारत में कला का व्यापक रूप प्रसारित था। दक्षिण भारत में अमरावती, नागार्जुनि कोंडा आदि स्थानों में बौद्धों के स्तूपों और श्रीकृष्ण के मन्दिरों के भग्ना-

वशेष मिले हैं। भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला के उदाहरण निम्नलिखित स्थानों पर संग्रहीत तथा संरक्षित हैं।

(१) भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता—इसमें गंधार शैली की तथा पिप्रवा मथुरा, अमरावती, भूमारा, भुवनेश्वर, कोणार्क आदि स्थानों से प्राप्त मूर्तियाँ संग्रहीत हैं। भरहुत स्तूप का एक द्वार भी यहाँ रखा है। तक्षशिला से प्राप्त महात्मा बुद्ध की भी मूर्तियों का संग्रह है। इसके अतिरिक्त प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन चित्र भी यहाँ संग्रहीत हैं।

(२) नालंदा संग्रहालय—यहाँ राजगिरि से प्राप्त अवशेष, गुप्त और मौखरी काल की मोहरें और महात्मा बुद्ध की ताँबे और पत्थर की मूर्तियाँ संग्रहीत हैं।

(३) सारनाथ संग्रहालय—इसमें मौर्य, शुंग, कुशान और गुप्त काल की मूर्तियाँ हैं जिनमें प्रमुख अशोक-स्तंभ के शेर की सात फीट ऊँची मूर्ति है। मथुरा की बोधिसत्व की मूर्ति और कनिष्क की मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत सी छोटी मूर्तियाँ हैं।

(४) नागार्जुनि कोंडा संग्रहालय—महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित मूर्तियाँ हैं जिनको कथा जातकों में है।

(५) लाल किला संग्रहालय, दिल्ली—इसमें प्रधानतः मुसलमान काल के चित्र तथा प्राचीन काल की मूर्तियाँ हैं।

(६) राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली—यहाँ सिंधु-घाटी, मध्य एशिया और दक्षिणी भारत से प्राप्त मूर्तियों और राजस्थानी, पहाड़ी, मुगल, दक्षिणी और पाश्चात्य शैली के चित्रों का अभूतपूर्व संग्रह है।

(७) प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई—ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्म से सम्बन्धित मूर्तियाँ संग्रहीत हैं। यहाँ पर महात्मा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित मूर्तियों का अद्वितीव संग्रह है।

(८) पटना संग्रहालय—इसमें कुमाराहार, बुलंदीबाग, कौशाम्बी, वैशाली, बेलवा, बोधगया, बक्सर, पटना आदि स्थानों से प्राप्त मूर्तियों का संग्रह है। छोटा नागपुर से प्राप्त ताम्र मूर्तियाँ, तिब्बतीय चित्र और मौर्यकालीन मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

इनके अतिरिक्त राजकीय संग्रहालय, मद्रास, प्रान्तीय संग्रहालय, लखनऊ, कर्जन संग्रहालय, मथुरा, केन्द्रीय संग्रहालय, नागपुर, प्रान्तीय संग्रहालय, भुवनेश्वर (उड़ीसा), प्रान्तीय संग्रहालय, गौहाटी (आसाम) आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता विश्वविद्यालय, नगरपालिका संग्रहालय, प्रयाग, भारत कला भवन, काशी, हैदराबाद संग्रहालय, हैदराबाद, ग्वालियर संग्रहालय, राजपूताना संग्रहालय, अजमेर, जयपुर संग्रहालय, भुरीसिंह संग्रहालय, चम्बा (हिमांचल प्रदेश), मैसूर राज्य संग्रहालय, बंगलोर, राजकीय संग्रहालय तथा चित्रशाला, बड़ौदा, साँची संग्रहालय (भोपाल) आदि संग्रहालयों में भी प्राचीन काल की मूर्तियों तथा चित्रों का सुन्दर संग्रह है।
